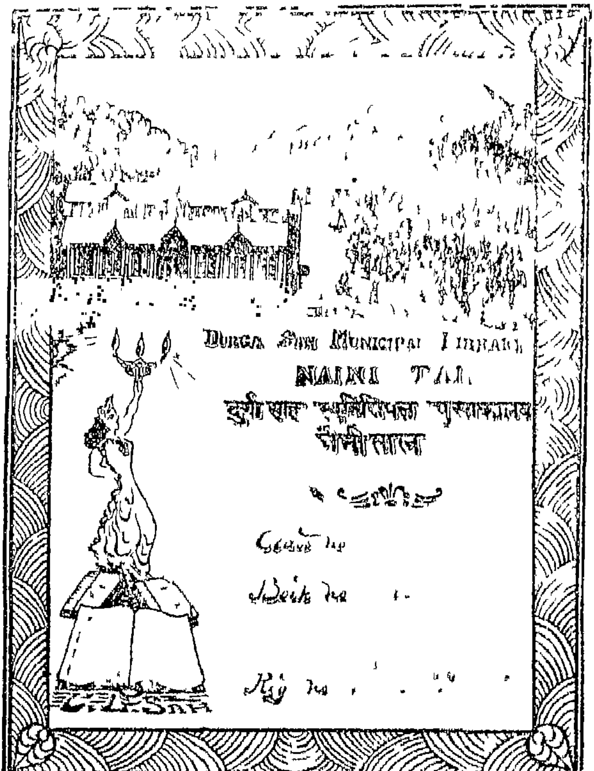


मेरे निबन्ध

— जीवन और जगत —

गुलाबराय, एम० ए०

गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा

प्रकाशक
रामप्रसाद अग्रवाल, बी. ए., एल-एल. बी.
गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा

प्रथमावृत्ति
जनवरी १९५५

मुद्रक
जगदीशप्रसाद, एम. ए., बी. कॉम
दी एज्यूकेशनल प्रेस, आगरा

समर्पण

जिसके मोहक मृग-मरीचिकायम मायाजाल के वशीभूत हो
हितचिन्तक डाक्टरों के सत्परामर्श के विरुद्ध भी मैंने
अपनी लेखनी को यन्त्रारूढ़वत् गतिशील रखा,
जिसने मुझे अनेकों रात विश्रामदायिनी निद्रादेवी की
मधुमयी सुखद क्रोड़ से वञ्चित रखकर मेरे शरीर को जीर्ण, जर्जर
और शिथिलाङ्ग बना दिया और जिसको छोड़ना
चाह कर भी मैं न छोड़ सका, उसी
चाही-अनचाही चिरसङ्गिनी लोक-एषणा को

तथा

परस्पर विपरीत पथगामी डाक्टरद्वय
नगेन्द्र और रामविलास शर्मा, एवं उभय श्री चिरंजीलाल एकाकी
और गोपालप्रसाद व्यास को, जिनके श्रद्धापूर्ण साधुवादों
से प्रेरित हो मैंने इन निबन्धों का सूम के
धन की भाँति संग्रह किया,
स्नेहमयी कृतज्ञता के साथ
समर्पित

परिचायिका

प्राचीन काल में प्रायः कवि और नाटककार अपनी कृति के आरम्भ में स्वयं अपना तथा अपनी रचना का परिचय दे देते थे। यदि मैं भी इस प्रथा का पालन करूँ तो कम से कम मेरे प्राचीनतावादी मित्र, जो लकीर के फकीर कहलाने में अपना गौरव समझते हैं, मुझे अधिक पथभ्रष्ट न समझेंगे। कालिदास, भवभूति और पण्डितराज के उदाहरण उनके सामने हैं। मैं इस बात में जायसी के शब्दों में 'पण्डितनकेर पछलगा' होने का श्रेय प्राप्त कर लेना चाहता हूँ।

'अङ्गं गलितं' का तो ईश्वर की दया से नहीं, किन्तु 'पलितं मुण्डं' का अवश्य और 'दशन विहीनं जातं तुण्डम्' की पचास प्रतिशत से कुछ अधिक सफलता का प्रमाणपत्र प्राप्त कर चुका हूँ। मैं सरसठ शरद देख चुका हूँ। मेरे बाल सफेद हो गये हैं, किन्तु धूप में नहीं वरन् शारदीय शुभ्रता देखते-देखते। वैसे तो मैंने जीवनोपवन की 'सघन कुंज छाया सुखद' और 'सीतल मंद समीर' में ही विचरण किया है, फिर भी मैं जीवन की धूप से अपरिचित नहीं हूँ, और जितना समय धूप में बिताया है उसका मुझे गर्व है। मेरे पैर में बिवाई फट चुकी है और मैं पराई पीर भी जानता हूँ। मैं उन लोगों में से हूँ जो फूँक-फूँककर पैर रखते हैं। मैं उन लोगों में से नहीं हूँ जिनसे 'साहस सकुच मानत।' किन्तु कभी-कभी विचार के शैल-शिखरों पर चढ़ने का प्रयास किया है और कभी-कभी फिसलकर गिरा भी हूँ। मैं भूला हूँ, और ठोकरें भी खाई हैं, किन्तु गिरकर उठा अवश्य हूँ।

जीवन के इस धूपछाहीं अनुभव की पूर्ति मैंने अध्ययन से की है। उसमें अपने चिन्तन का रस भी मिलाया और साथ ही शैली का नमक-मसाला भी। इसी के फलस्वरूप मैं आपकी सेवा में अपने अड़सठवें जन्मदिवस पर 'मेरे निबन्ध—जीवन और जगत'

शीर्षक अपनी पुस्तक भेंट कर रहा हूँ। इन निबन्धों में जीवन और जगत से प्राप्त अनुभूतियाँ हैं और उन पर मेरी शैली और उसमें व्यक्त होने वाले व्यक्तित्व की छाप है। यही पुस्तक के शीर्षक की सार्थकता है।

आज का हिन्दी निबन्ध साहित्य अधिकांश में आलोचना की ओर दौड़ा जा रहा है। आजकल आचार्यत्व की चाह रीति-काल से भी कुछ बढ़ी-चढ़ी है किन्तु उस प्रवाह में लिखे हुए निबन्धों में विषयगतता कुछ अधिक है। हमारे लेखकों को जीवन के लहराते सागर की ओर दृष्टिपात करने का कम अवकाश मिलता दिखाई पड़ता है। वे गम्भीर अधिक हैं। जीवन और जगत के सम्बन्ध में हमारे साहित्यिक विचारात्मक साहित्य कम दे सके हैं; उन्होंने साहित्य पर ही अपनी विचारात्मक दृष्टि केन्द्रित रखी है। जिन्होंने विचारात्मक साहित्य दिया है वे उससे भाराक्रान्त से प्रतीत होते हैं। उन्होंने जीवन को खेलकूद की अथवा जीवनो-ल्लास की प्रसन्नता के साथ नहीं देखा। वे न स्वयं हँसे हैं और न उन्होंने दूसरों का हँसाने का प्रयत्न किया है। मैं दम घुटने वाले गहरे पानी में नहीं पैठा हूँ और न भूलभुलैयों में पड़ा हूँ। इसीलिये परेशान नहीं हुआ हूँ। जो सहज में मन आया वही लिखा और दूसरों को भी अपने साथ हँसाने का प्रयत्न किया।

इन निबन्धों में विविध क्षेत्रों—जैसे, व्यापार, मनोविज्ञान, कर्तव्य और आचार, राजनीति आदि—का पर्यवेक्षण है। इनसे पाठकों की कहाँ तक ज्ञानवृद्धि होगी यह मैं नहीं कह सकता, किन्तु कुछ मनोरञ्जन अवश्य होगा और शायद जीवन के भार में भी वे कुछ हल्कापन अनुभव करें। यह तो मेरा दावा नहीं कि मैं बिलकुल विषयगतता से बचा हूँ, किन्तु इन निबन्धों में शैली का निजीपन अधिक है और वे इस कारण अपना निबन्ध होना सार्थक करते हैं।

साहित्य में मेरे दो रूप हैं—आलोचक और निबन्धकार। आलोचना के क्षेत्र में मुझे यह कहना पड़ेगा कि मैं नवीनों के साथ कदम मिलाकर नहीं चल सका हूँ। मैं कुछ पिछड़ेपन का अनुभव करता हूँ। किन्तु जहाँ तक मौलिक सिद्धान्तों की व्याख्या का प्रश्न है, मैं अपने को किसी से पीछे नहीं पाता। निबन्धों की

शैली मेरी है और उस पर मुझे गर्व भी है। मैं अपने निबन्धों में अपेक्षाकृत वैज्ञानिक और विषयगत होते हुए भी उनकी साहित्यिकता को अक्षुण्ण रख सका हूँ यही मेरे लेखन की विशेषता है।

यह निबन्ध अखबारों में छपे अवश्य हैं, किन्तु उनकी भस्मासुर की सी जठराग्नि की पूर्ति के लिये नहीं वरन् 'स्वान्तः सुखाय' और सृजन की अदम्य आवश्यकतावश लिखे गये हैं। अखबारों के अस्थायी साहित्य से निकालकर पुस्तक का स्थायी रूप देने में श्री गयाप्रसाद एण्ड सन्स तथा एज्यूकेशनल प्रेस के अध्यक्ष श्री रामप्रसाद अग्रवाल एवं श्री जगदीशप्रसाद अग्रवाल ने जिस श्रद्धा और साहस का परिचय दिया है उसके लिये मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। श्री रामगोपालसिंह ने इसके प्रूफ-संशोधन का भार स्वयं वहन करके मेरे शरीर के रक्तचाप को कुछ हल्का रखा इसके लिये मैं उनका अनुगृहीत हूँ। पाठकगण इन निबन्धों को पढ़कर मुझे आभागी बनायेंगे। अग्रिम धन्यवादों सहित,

गोमती निवास
आगरा
माघ शुक्ला ४, सम्वत् २०११

गुलाबराय

निबन्ध-सूची

वैयक्तिक

मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ

'बद अच्छा, बदनाम बुरा।' कवि, लेखक और दार्शनिक प्राय: इस बात के लिए बदनाम हैं कि वे कल्पना के आकाश में विचरा करते हैं; उनके पैर चाहे जमीन पर रहें, किन्तु निगाह आसमान की ओर रहती है और वे झोंपड़ियों में रहकर भी ख्वाब महलों का देखा करते हैं। न्यायशास्त्र के कर्ता अक्षपाद गौतम एक दिन विचार करते-करते एक गढ़े में गिर पड़े थे। भगवान ने दया करके उनके पैरों में आँखें देदी थीं, इसलिए कि वे ऊपर को आँख किये हुए भी पैरों के पास के गढ्ढों और काँटों को देख सकें। तभी से उनका नाम अक्षपाद हो गया। आजकल के दार्शनिकों को ईश्वर में विश्वास नहीं, नहीं तो शायद उनके पैरों में भी आँखों के जोड़े निकल आते। आजकल पैरों की तो क्या सर की आँखों के भी लाले पड़े रहते हैं। अक्षपाद तो अतीत काल की विभूति थे। किन्तु आधुनिक काल में भी कुछ लोग अवश्य अपने चरित्र से दुनियाँ की धारणा को सार्थक करते रहते हैं। वास्तव में कोई वर्ग अकारण बदनाम नहीं होता। ऐसे लोग दीन-दुनियाँ से बेखबर रहकर तीनों लोकों से न्यारी अपनी मथुरा बसाया करते हैं और कविवर 'अकबर' के शब्दों में सारी उम्र होटलों में गुजार (बढ़िया होटलों में नहीं), मरने को अस्पताल चले जाते हैं। इनमें से कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जिनका अन्तः (घर) और बाह्य (सामाजिक जीवन) एकसा है। उनको न बच्चों की टें-टें-पें-पें से काम और न दुनियाँ के करुण-क्रन्दन से मतलब; क्वेटा का भूकम्प हो और चाहे बंगाल का दुर्भिक्ष, राष्ट्र बिगड़े या बने, उनको अपने सोटे-लँगोटे में मस्त पड़े रहना; न वे ऊधो के

लेने में रहते हैं और न माधो के देने में। वे अपनी कल्पना के कल्पतरु के नीचे बैठकर अपनी विश्वामित्री सृष्टि रचा करते हैं; सो भी जब मौज आई, नहीं तो वे कल्पना का भी कष्ट नहीं करते।

कुछ लोग ऐसे हैं जिनको घर की तो परवाह नहीं, बच्चों के लिए दवा हो या न हो, घर में चूहे नहीं आदमी भी एकादशी करते हों, स्त्री बेचारी नैयायिकों के अनुमान के प्रत्यक्ष आधार-स्वरूप आर्द्रेन्धन (गीले ईन्धन) और अग्नि के संयोग से उत्पन्न धुएँ से अग्निहोत्री ऋषियों की भाँति आरक्त-लोचन (धुएँ के अतिरिक्त क्रोध से भी) बनी रहती हो, किन्तु उन्हें सभाओं के संचालन और नेतापन से काम। घर में उनके पैर, जाल में पड़ी हुई मछली की भाँति, फटफटाया करते हैं किन्तु बलिहारी कन्ट्रोल की कि उनको भी आटे-दाल का भाव आलङ्कारिक रूप से नहीं बल्कि उसके शब्दार्थ में भी मालूम पड़ गया है। मेरे एक दार्शनिक मित्र (श्री पी. एम. भम्भानी) उस रोज शक्कर का पारिवारिक अर्थशास्त्र बतला रहे थे। मुझे उन्हें चीनी की समस्या से विचलित होते देखकर आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा—भाई, यह कंट्रोल मुझे भी आसमान से नीचे उतार लाया और मैं भी अब नोन-तेल-लकड़ी के चक्कर में पड़ गया हूँ। (ईश्वर को धन्यवाद है कि अब कन्ट्रोल की बाधा नहीं रही।)

मैं कभी-कभी उपर्युक्त गृहत्यागी वर्ग की गगनचुम्बिनी सीमा को स्पर्श कर लेता हूँ किन्तु पारिवारिकता के क्षेत्र से बाहर नहीं आ सका हूँ। पारिवारिक जीवन में सामाजिक जीवन का समन्वय करना कभी-कभी बड़ी समस्या हो जाता है। ऐसा हाल प्रायः बहुत से लेखकों का होगा। परिवार में जन्म लेकर उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। कुछ लोग परिवार में जन्म लेते हैं किन्तु परिवार बनाने का पाप अपने ऊपर नहीं लेते हैं। ऐसे व्यक्ति यदि वे अगला जन्म धारण करेंगे तो टेस्ट-ट्यूब बेबीज के रूप में प्रकट होंगे। विज्ञान और समाजशास्त्र निष्पारिवारिकता की ओर जा रहा है, किन्तु हम लोग भारतीय संस्कृति के बन्धन में पले हैं, पारिवारिकता के बन्धन से बाहर नहीं जा सकते हैं—उसमें गुण भी हैं और दोष भी। शुद्ध दूध में भी तो ६० प्रतिशत से अधिक पानी होता है। उस पानी के बिना शायद वह दूध हज्म भी न हो।

पाप-पुण्य, दिन-रात की भाँति पारिवारिक जीवन भी गुण-दोषमय है। दोषों की मैं कमी अवश्य चाहता हूँ किन्तु उस वैद्य की भाँति नहीं हूँ जो ऐसी दवा दे जिससे न मर्ज रहे और न मरीज। अस्तु, इसी पारिवारिकता-परायण और सामाजिकता के लिए मनोरथ-शील कछुए जैसे मुझ उभयजीवी प्राणी की दैनिकी का एक पृष्ठ पढ़ने की पाठकगण कृपा करेंगे।

तारीख २१ सितम्बर सन् १६४५ (केवल यही पृष्ठ लिखकर मैं घबड़ा गया था, वास्तविकता की पुनरावृत्ति मैं नहीं चाहता हूँ)।

प्रातःकाल ४ बजे (लिनलिथगो टाइम से) उठा। अपनी 'सिद्धान्त और अध्ययन' शीर्षक पुस्तक के लिए ६ बजे तक पढ़ा। (मैं उन लोगों में से हूँ जो अपने विशेष निबन्धों के लिए बिना कुछ पढ़े नहीं लिख सकते। वास्तव में मेरे लेखन में एक तिहाई दूसरे से पढ़ा होता है, एक बटा छह उसके आधार से स्वयं प्रकाशित और ध्वनित विचार होते हैं, एक बटा छह सप्रयत्न सोचे हुए विचार रहते हैं और एक तिहाई मलाई के लड्डू की बर्फी बना कर चोरी को छिपाने वाली अभिव्यक्ति की कला रहती है।) ६ से सवा ६ तक कागज कलम सियाही जुटाने में खर्च किया। आठ बजे मध्ये-मध्ये आचमनीयम् तथा पुङ्गीफल खण्डों के विराम चिह्नों सहित लिखा।

६ बजे तैयार होकर प्रूफ की तलाश में प्रेस गया; अक्षर भगवान् को छड़िया भर छाछकी बजाय बेलन के बल, जगत् की कालिमा मिलाकर उँगलियों पर नाच नचाने वाले कम्पोजीटर देव की अनुपस्थिति में 'कॉपी' में काट-छाँट की और प्रूफ में भी घटाया-बढ़ाया। इस प्रकार उनकी झूँझल का सामान कर बाजार गया। वहाँ पहुँचते ही शेखर के अन्तिम दिन की भाँति स्मृति के तार झंकृत हो उठे और घर के सारे अभावों का ध्यान आ गया। किन्तु बाजार में कोई स्थान नहीं है जहाँ सब अभावों की एक साथ पूर्ति हो जाय। अगर अच्छा साबुन राजा-मंडी में मिलता है तो अच्छा मसाला रावतपाड़े में। किन्तु वहाँ भैंस के लिए भुस का अभाव था। बाल-बच्चों की दवा के बाद अगर किसी वस्तु को मुख्यता मिलती है तो भैंस के भुस को, क्योंकि उसके बिना काले अक्षरों की सृष्टि नहीं हो सकती। मेरी

काली भैंस धवल दुग्ध का ही सृजन नहीं करती, वरन् उसके सदृश ही धवल यश के सृजन में भी सहायक होती है। इस गुण के होते हुए भी वह मेरे जीवन की एक बड़ी समस्या हो गई है। मैं हर साल उसके लिए अपने घर के पास के खेत में चरी कर लेता था। इस साल वर्षा के होते हुए भी मेरे यहाँ चरी नहीं हुई—'भाग्यं फलति सर्वत्र, न विद्या, न च पौरुषं'—मेरे पड़ोसी के ईर्ष्या-जनक लहलहाती खेती है। मेरी भैंस को उस खेती से ईर्ष्या नहीं वरन् सच्चा अनुराग है, वह सच्चे भक्तों की भाँति गृह-बन्धनों को तोड़कर अपने प्रेम का आक्रमण कर देती है। जितना वे उसे भगाते हैं उतनी ही उनकी चरी रौंधी जाती है और जितनी उनकी चरी रौंधी जाती है उससे अधिक उनका दिल दुखता है। मालूम नहीं इसको अलङ्कार शास्त्र में असंगति कहते हैं या और कुछ। घाव लक्ष्मणजी के हृदय में था और पीर रघुवीर के हृदय में, वैसे ही रौंधी चरी जाती थी और दुःख मेरे पड़ोसी महोदय के हृदय में होता था।

मैं संघर्ष में पड़ता नहीं, किन्तु कभी-कभी इच्छा न रखते हुए भी संघर्ष बड़ा तीव्र हो जाता है। बच्चों के दूध और पड़ोसी के साथ सद्भावना में ऐसा अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित हो जाता है जो शायद प्रसाद के नाटकों में भी सहज ही न मिले। खैर, आजकल उसका दूध कम हो जाने पर भी और अपने मित्रों को छाछ भी न पिला सकने की विवशता की झुँझल के होते हुए भी (सुरराज इन्द्र की तरह मुझे भी मठा दुर्लभ हो गया है: तक्रं शक्रस्य दुर्लभम्) उसके लिए भुस लाना अनिवार्य हो जाता है। कहाँ साधारणी-करण और अभिव्यञ्जनावाद की चर्चा और कहाँ भुस का भाव? भुस खरीदकर मुझे भी गधे के पीछे ऐसे ही चलना पड़ता है जैसे बहुत से लोग अकल के पीछे लाठी लेकर चलते हैं। कभी-कभी गधे के साथ कदम मिलाये रखना कठिन हो जाता है, (प्रगतिशीलता में वह मुझसे चार कदम आगे रहता है) लेकिन मुझे गधे के पीछे चलने में उतना ही आनन्द आता है जितना कि पलायनवादी को जीवन से भागने में। बहुत से लोग तो जीवन से छुट्टी पाने के लिए कला का अनुसरण करते हैं किन्तु मैं कला से छुट्टी पाने के लिए जीवन में प्रवेश करता हूँ। ११ बजे बाजार

हाट से भैंस के लिए भुस और अपने लिए शाकभाजी लेकर लौटा, स्नान किये, भोजन किया, और करीब-करीब १२॥ बजे कालेज पहुँचा। लड़कों को पढ़ाया या बहकाया—मैं गलत पढ़ाने का पाप नहीं करता किन्तु जो मुझे नहीं आता उसे कभी-कभी कौशल के साथ छोड़ देता हूँ। यदि कोई छंद इम्तहान में आने लायक हुआ तो मैं बेईमानी नहीं करता। अपनी अज्ञता सहर्ष स्वीकार कर लेता हूँ।

कालेज की लाइब्रेरी से कुछ पुस्तकें लीं और फिर 'साहित्य-संदेश' के दफ्तर आया। वहाँ जलपान किया—जल पीकर पान खाया; कभी-कभी रूढ़ि अर्थ में भी जलपान करता हूँ और कभी शुद्ध अभिधार्थ में जल का पान करता हूँ। कम्पोजीटर की शिकायत सुनी, दीन शराबी की सी तोबा की कि अब न घटाऊँगा-बढ़ाऊँगा। आप लोगों को कष्ट अवश्य होता है। उनकी अनुनय-विनय की ('अब लौं नसानी अब न नसैहौं')। किन्तु क्या करूँ आदत से मजबूर हूँ। बनियों की पाछिल बुद्धि होती है, लिखने के बाद कहीं प्रूफ पढ़ने पर ही शोधन सूझते हैं। प्रूफ पढ़े। कम्पोजीटरों से बढ़कर स्वयं झूँझल का शिकार बना। ४ बजे घर लौटा। अभावों की नई गाथा सुनी; घर की भूली हुई समस्याएँ सामने आईं। खूँटा उखाड़कर भैंस भाग गई थी, उसकी साँकल किसी ने उतार ली है; क्या फिर दुबारा बाजार जाऊँ? इसी संकल्प-विकल्प में दुग्धपान किया। रात्रि में जल के मार्जन और आचमन से निद्रा देवी का जो तिरस्कार किया था, उसका प्रायश्चित किया। उठकर भाई को पत्र लिखा। रमणीयता के सम्बन्ध में हमारे यहाँ कहा गया है: 'क्षणेक्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' अर्थात् जो क्षण-क्षण में नवीनता धारण करे वही रमणीय है। मेरी घरेलू समस्याएँ मेरी कल्पना से भी चार कदम आगे रहती हैं। फिर मैं उनको सुन्दर क्यों न कहूँ। शास्त्रीय परिभाषा के बाहर मैं नहीं जा सकता। आज किसी ने भैंस की जंजीर चुराली तो कल पढ़िया ने खेत खा लिया। मेरी शान्ति के भंग करने के लिए एक नया एटम बम रोज तैयार रहता है। किसी को बुखार आ गया तो किसी के दाँत में दर्द है। कभी चीनी वर्षाकालीन नदी की भाँति राशन की मर्यादा को पार

कर गयी तो कभी कपड़ों की चर्चा। सर्वोपरि, लड़ाई के दिनों में सुरसा के मुख की भाँति बढ़ते हुए खर्चों के अस्तित्व में कलियुग में श्रद्धा की भाँति घटते हुए बैंक शेषों को बौद्धों के परम तत्व (शून्य) की गति से बचाने की फिक्र। धन भी हो तो वस्तु का अभाव। कपड़ों के सम्बन्ध में डिस्ट्रिक्ट सप्लाई ऑफिसर से मिलने का संकल्प किया, घर में इधर-उधर का वार्तालाप। सायंकाल को अपने पड़ोसी द्विवेदी के यहाँ बैठकर स्त्रियों के वेदाध्ययन के अधिकार पर चर्चा की। (यद्यपि मेरे घर में किसी के वेद पढ़ने की आशंका नहीं, फिर भी शहर के अन्देशे से परेशान होने में कुछ ट्रेजडी के पढ़ने का सा आनन्द आता है।) मैंने कहा कि जब स्त्रियों में मंत्रद्रष्टा हैं तो उनको वेदों के पढ़ने का अधिकार क्यों नहीं? उन्होंने कहा जो शास्त्र में लिखा है वह लिखा है, उसमें संगति लगाने और तर्क उठाने की गुञ्जाइश नहीं। विचारों में घोर मतभेद होते हुए भी वार्तालाप कटुता की सीमा तक नहीं पहुँचता। और मैं उनके यहाँ बैठकर 'काव्यशास्त्र विनोदेन कालोगच्छति धीमताम्' की उक्ति को सार्थक करता रहता हूँ। रात को सवेरे की साहित्यिक चोरी के लिए कुछ पढ़ा, बच्चों से वार्तालाप किया। कुछ मनोविनोद हुआ।

कभी-कभी जब वे करुण, रौद्र या वीर रस का लौकिक प्रदर्शन करने लगते हैं तब मुझे प्रसाद की निम्नलिखित पंक्तियों की सार्थकता समझ में आने लगती है—

ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक धीरे - धीरे;
जिस निर्जन में सागर लहरी
अम्बर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।

बच्चों को मैं पढ़ाता बहुत कम हूँ। यहाँ तक कि मेरे बच्चे भी मुझ पर इस बात का व्यंग करने लगते हैं। मेरे एक शिष्य प्रवर ने (जब आचार्य प्रवर कहलाते हैं, तो शिष्य प्रवर भी कहलाने चाहिये) किसी प्रसंग में कहा—हम तो आपके बच्चे हैं, आपका आशीर्वाद चाहिये। मेरे कनिष्ठ पुत्र विनोद ने, जिसकी

आयु प्रायः बारह साल की है, तुरन्त उत्तर दिया, "आप अगर बाबूजी के बच्चे बनेंगे तो वे आपको पढ़ाना छोड़ देंगे क्योंकि आप बच्चों को नहीं पढ़ाते हैं।" यही मेरे पारिवारिक जीवन की कमी है। वैसे इन झंझटों के होते हुए भी अत्यन्त सुखी हूँ। चारों ओर अनुकूलता और आज्ञाकारिता है। मैं हृदय की सचाई से कह सकता हूँ कि जन्म-जन्मान्तर में भी मेरा जन्म इसी परिवार में हो। मैं मोक्ष के लिए उत्सुक नहीं हूँ।

नोट—इस दिनचर्या में थोड़ा परिवर्तन हो गया है। भैंस के प्रति तुलसीदासजी का सा अनन्य भाव रखते हुए भी अब भैंस के स्थान पर गाय पाल ली है। समस्याएँ तो करीब-करीब वे ही हैं। आजकल मेरे पड़ोसी के यहाँ घास अच्छी है—वैसे भी पराई पत्तल का भात अच्छा लगता है—उस पर आक्रमण होता है। समय मिलने पर मैं रघुवंश (२।५) में वर्णित महाराज दिलीप के पूरे कार्यक्रम का अनुकरण करता हूँ—'आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च' अर्थात् घास के सुस्वादु ग्रासों से, खुजलाने से और डाँस उड़ाने से मैं उसे प्रसन्न करना चाहता हूँ; केवल एक बात की कसर रह जाती है—मैं उसकी अव्याहत स्वच्छन्द गति में सहायक नहीं हूँ और यह नहीं कह सकता 'अव्याहतैः स्वैरगतैः' क्योंकि उसके स्वच्छन्द विचरण में पड़ोसियों के विनम्र परन्तु तीखे उपालम्भों का भय रहता है। मैं यदि सम्राट् होता तो उसकी अबाधित गति पर आक्षेप करने का किसी को साहस न होता। भुस के लिए मुझे अब बाजार नहीं जाना पड़ता। बाजार हाट का बहुत सा काम अब मेरा कनिष्ठ पुत्र विनोद कर लेता है। कम्पोजीटर अब भी मुझसे परेशान हैं।

[*'मेरी असफलताएँ'*]

आत्म-विश्लेषण

जहाँ मुझमें भले आदमी का ढोंग रचने की प्रवृत्ति बहुत काल पूर्व से थी (मुझमें उतनी भलमनसाहत अवश्य है जितनी कि कलई करने के लिए सोने की मात्रा आवश्यक होती है), वहीं अब करीब पाँच वर्ष से रक्तचाप, मधुमेह, मन्दाग्नि आदि बड़े आदमियों के रोगों के साथ मैंने वर्षगाँठ मनाने का भी रोग अपनाया है। वास्तव में यह मेरी पाँचवीं वर्षगाँठ है क्योंकि अभी मैंने केवल पाँच ही बार वर्षगाँठ मनाने का उपक्रम किया है। यद्यपि जीवन का प्रत्येक क्षण भगवान की देन है, तथापि मैं समझता हूँ कि साधारण संयम से जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति साठ वर्ष तक अपने संयम के अधिकार से सुखेन जी सकता है। किन्तु उसके पश्चात् प्रत्येक वर्ष ईश्वर की अमूल्य देन है। इसीलिए ईश्वर के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करने के अर्थ (यद्यपि मैं बौद्धिकता की अपेक्षा भावुकतावश ही ईश्वर में विश्वास करता हूँ) प्रतिवर्ष वर्षगाँठ मनाने लगा हूँ।

उत्सव-प्रियता मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है। यह उसकी सामाजिकता की सहज वृत्ति की परिचायक है। किन्तु जन्म-दिन जैसे उत्सवों में सामाजिकता के साथ वैयक्तिकता का पुट भी करीब-करीब बराबर मात्रा में रहता है। इस उत्सव में जहाँ तक सामाजिकता है वहाँ तक मुझे प्रसन्नता है, किन्तु इसमें जो वैयक्तिकता है उसके लिए मैं लज्जित हूँ, क्योंकि अपने लिए दूसरों को कष्ट देना (चाहे वह लेख पढ़ने का ही क्यों न हो) अक्षम्य दोष है।

कठिनाइयों और बाधाओं के होते हुए भी मैं ईश्वर के प्रति अनुगृहीत हूँ कि संसार में जितनी दुःख की मात्रा है उसको देखते हुए मुझे अपने हिस्से से बहुत कम मिला है, किन्तु इस विषय में मैं साम्यवादी नहीं बनना चाहता हूँ (और न मेरे साम्यवादी मित्र ही दुःख का साम्यवादी बटवारा चाहेंगे)। इसी कारण मैं सुख और वैभव में साम्यवादी बनने के लिए बहुत उत्सुक नहीं हूँ। दुःख और कठिनाइयों पर विजय पाने में ईश्वर की कृपा के अतिरिक्त मेरी हास्यप्रियता और 'काव्यशास्त्र विनोदेन' कालयापन करने की

प्रवृत्ति ही सहायक है। वास्तविक दुःखों से, जिनमें स्वजनों की बीमारी मुख्य है, अवश्य दुःखी हुआ हूँ, किन्तु कल्पित दुःखों—विशेषकर आर्थिक कठिनाइयों—से मैं विचलित नहीं हुआ हूँ।

'मति अति नीच रुचि अति आछी; चाहिअ अमी जुरै न छाछी।' यद्यपि रुचि के अनुकूल मति नहीं है तथापि छाछी की तो कमी नहीं रही, दूध भी बिना किसी कठिन परिश्रम के मिल गया है। उसको मैंने अमृत करके ही माना है। तुलसीदासजी की भाँति न तो मैं कभी छाछी को ललचाता रहा और न बड़े होने पर सौंधे दूध की मलाई को नखरे और नाराजी से खाया—'छाछी को ललात जे ते राम नाम के प्रसाद, खात खुनसात सौंधे दूध की मलाई है।' मैंने दूध का हरएक रूप में स्वागत किया है (सपरेटा को छोड़कर)। दूध मैंने गरम ही पीना चाहा है। असावधानी मेरा जन्मगत दोष है क्योंकि बसन्त से एक दिन पूर्व ही मैं इस संसार में आया किन्तु मैं उससे (दूध से) जला नहीं हूँ, इसलिए छाछ को फूँक-फूँक कर पीने की आवश्यकता नहीं पड़ी। जीवन में पर्याप्त लापरवाही रही। अनियमितता ही मेरे जीवन का नियम और विधान रहा। जीने के लिए जितने खाने की आवश्यकता है उससे कहीं अधिक खाया। रसना का संयम मैं न कर सका। मैं सब चीजों का आस्वाद लेकर रसना शब्द को सार्थक करता रहा हूँ। मैं न खाने के लिए जिया और न मैंने जीने के लिए खाया वरन इसलिए खाया कि खाना भी जीवन का एक सदुपयोग है। किन्तु मैं मर्यादा से बाहर नहीं हुआ। मैंने मध्यम प्रतिपदा का अनुसरण किया। मैं जानता हूँ कि उचित मात्रा में विष भी ग्राह्य हो जाता है। परान्न का मैंने आदर किया किन्तु उसके लिए 'परान्नं प्राप्य दुर्बुद्धे मा शरीरेषु दयां कुरु' का सिद्धान्त नहीं बरता; 'शरीराणि जन्मनि जन्मनि' में इतना दृढ़ विश्वास नहीं कि भोजन के लिए जीवन को खतरे में डालूँ। फिर भी जहाँ खतरे की घंटी बजी वहाँ डाक्टरों के कठोर शासन में अपने को रख दिया।

मैं बहुत आदर्शवाद में नहीं पड़ा। 'अकरणाद मन्दकरणं श्रेयः' का सिद्धान्त मेरे जीवन को क्रियाशील बनाये रखने में सहायक रहा है। पर कभी-कभी मैंने बीछी का मन्त्र न जानते

हुए साँप की बाँबी में हाथ डाल दिया है। हिन्दी साहित्य को भली भाँति न जानते हुए भी संस्कृत-साहित्य से भी मैंने खिलवाड़ किया है। इसका एक कारण यह भी है कि संस्कृत के पंडित प्रायः मौन रहना ही पसन्द करते हैं। जब कोयल मौन हो जाए तो क्या मेंढक भी टरटर न करें? मुझे अपनी साहित्यिक न्यूनताओं का औरों की अपेक्षा अधिक ज्ञान रहा है। 'साँप के पैर साँप को ही दीखते हैं', इसलिए जितना मात्र मुझे मिला उसे पर्याप्त से अधिक मानकर मैंने शिरोधार्य किया। 'अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्' का अनुसरण करते हुए विद्या बहुत तो नहीं मिली किन्तु वह मूर्खों में रब जमाने के लिए पर्याप्त है। कुशल व्यापारी की भाँति मैं अपने विद्या-धन को तिजोरी में बन्द करके नहीं रखता वरन् पुस्तकें लिखकर उसे गतिशील बनाए रखता हूँ। विद्या मनोरंजनी होने के साथ अर्थकरी भी हो जाती है।

ईश्वर ने मुझे धन भी बेहिसाब दिया है। बेहद तो उसे नहीं कह सकता क्योंकि आजकल तो वैज्ञानिक लोग तारागणों की गणना करना भी असम्भव नहीं मानते हैं। वह बेहिसाब इस अर्थ में है कि मैं आलस्यवश आय-व्यय का हिसाब नहीं रख सका। मैं केवल इतना ही जानता हूँ कि वर्ष के अन्त में सौ और दो सौ के बीच की रकम और उससे भी कम बाकी बच रहती है; इस सन्तोष में खल के से इतराने की बात आ जाती है—'क्षुद्र नदी भरि चली उतराई, जस थोरेउ धन खल बौराई।'

मैंने साहित्य-सेवा अवश्य की, किन्तु मुझमें गहरी पैठ का अभाव रहा। सन्तोष केवल इतना है कि किनारे बैठे हुए ही बहुत से रत्न मिल गए। मैं उनका उदारतापूर्वक वितरण करता रहा और उस वितरण में सरस्वती के भंडार की अक्षयता ही प्रमाणित होती रही। ईश्वर को कोटिशः धन्यवाद देता हूँ कि उसने मुझमें इतनी साहित्यिक व्युत्पन्नता नहीं दी कि मैं रेशम के कीड़े की भाँति अपने ही जाल में लिपट जाऊँ और उसके कारण आलोचना के गरम जल में डाला जाऊँ।

साहित्यिक ज्ञान के खोखलेपन के साथ, जिसको मैं प्रायः प्रकट नहीं होने देता, मुझमें नैतिक गाम्भीर्य का भी अभाव रहा है। यद्यपि परहित के धर्म का उचित से कम मात्रा में ही पालन

कर सका हूँ, तथापि परपीड़न की अधमाई से यथासम्भव बचता रहा हूँ। मुझमें कमजोरियाँ रहीं किन्तु मैंने उन कमजोरियों को कमजोरियाँ ही कहा। यद्यपि मैंने महात्मा गांधी की भाँति उनका उद्घाटन नहीं किया फिर भी उनको किसी भव्य आवरण के नीचे छिपाने का प्रयत्न भी नहीं किया। अपनी कमजोरियों के ज्ञान ने मुझे दूसरों की कमजोरियों के प्रति उदार बनाया। दूसरे के पक्ष को मैंने सदा मान दिया। अपनी भूल को स्वीकार करने के लिए सदा तैयार रहा। इसी कारण मैं दूसरों के वैर-विरोध से बचा रहा, यद्यपि कभी-कभी ऐसी बात सुनने को मिल गई—"दूसरों के प्रति अपव्यवहार कर उनका नुकसान कर, क्षमा माँगने से क्या लाभ? यह तो 'सन्न मार कर दुशाले से पोंछने की नीति हुई।'" दूसरों के किए हुए उपकार का मैं प्रत्युपकार तो नहीं कर सका; मैं अपने उपकारी के लिए यही शुभ कामना करता रहा कि वह ऐसी परिस्थिति में न आए कि उसको मेरे प्रत्युपकार की जरूरत पड़े (और मैं भी आलस्य का सुखद धर्म त्याग कर कष्ट में पड़ूँ) किन्तु मैंने अपकार के बदले अपकार करने की भी चेष्टा नहीं की और न कभी उपकारी का कृतघ्न ही हुआ। उनका किया हुआ अपकार मेरे हृदय से पानी की लकीर की भाँति सहज तो नहीं विलीन होगया किन्तु वह पत्थर की लकीर नहीं बना। अधिक से अधिक बालू की लकीर बनकर रह गया जो उनके एक कोमल शब्द से मिट गया। कभी-कभी मेरी हास्य-व्यंग्य की वृत्ति ने मेरी सज्जनता पर अवश्य विजय पाली है। कोई अच्छा व्यंग्य मिल जाता है तो उसे बिना लिखे नहीं रहता। बड़ों की ईर्ष्या अवश्य की किन्तु पराई विभूति देखकर जूड़ी नहीं आई। न मैं 'बिन काज दाहिने बाएँ' हुआ क्योंकि दुनिया में वैसे ही मुसीबतें काफी हैं, दाहिने-बाएँ बनकर नई मुसीबत मोल लेना मैं मूर्खता समझता रहा हूँ। इन निषेधात्मक गुणों से मैंने संतोष किया। 'यही हमार बड़ सिवकाई, भूषन बसन न लेहिं चुराई।'

सत्य की मैंने हृदय से सराहना की किन्तु भीरुतावश असत्य का उग्र विरोध करने का साहस न कर सका। भ्रष्टाचार से मैं स्वयं यथासम्भव बचा किन्तु दूसरों को भ्रष्टाचार से न रोक सका। शहर के अंदेशे से लड़ने की मुझमें उदारता नहीं आई। इसका

मुझे पश्चात्ताप है। कभी-कभी 'मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' की वृत्ति समाज के लिए अहितकर सिद्ध हुई है। मेरी दार्शनिक प्रवृत्ति ने असत्य में भी सत्य की चिनगारी देखने के लिए मजबूर किया। इसलिए मेरे निर्णय दो-टूक कटे-छटे नहीं होने पाते। कुछ लोगों ने मेरे नकार को शिथिल बतलाया है, यह उनका कथन ठीक है किन्तु उसका मुझे खेद नहीं है।

मैंने धर्म के विषय में 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' के आधार पर अपने को ही अधिक प्रमाण माना है। मेरे इस बुद्धि-[illegible] से मेरे पूज्य पिताजी और मेरे कई धार्मिक मित्र भी अप्र[illegible] किन्तु मैंने श्रीमद्भगवद्गीता की उदारता का आश्रय लेकर (ये [illegible] मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्) अपनी ही मनमानी की, [illegible] से कह दिया कि 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'। मैंने निवृत्ति की अपेक्षा प्रवृत्ति को अधिक श्रेयस्कर समझा। वैराग्य साधन के मोल की मैंने परवाह नहीं की किन्तु कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्दों में 'असंख्य बन्धन माझे महानन्दमय लभिब मुक्तिर स्वाद' की नीति को अपनाया। विश्राम कर भौतिक जीवन को लम्बा करने की अपेक्षा कार्यरत रहकर जीवन की सम्पन्नता बढ़ाने को अधिक महत्व दिया। जीवन की दीर्घता का माप कार्य-बाहुल्य में है। जीवन के सुख-भोग और वैभव से वैराग्य नहीं धारण किया। केवल इतना ही प्रतिबन्ध रखा कि वह विलास-वैभव अन्यायार्जित न हो। सम्यक् आजीविका का सदा ध्यान रखा।

जीवन के अन्य कार्यों में भी दूसरों की बात को सुना अवश्य किन्तु की मनमानी ही। 'परोक्तं न मन्यते' का गुण या अवगुण पंडितों और मूर्खों में समान रूप से रहता है। मूर्खों में वह हठवाद कहलाता है और पंडितों में वह दृढ़ता के नाम से प्रतिष्ठित होता है। मैं अपने सम्बन्ध में उसे हठवाद ही कहूँगा। मैं दूसरे की बात को तभी मानता हूँ जब उसे अपनी बना लेता हूँ। उस आत्मीकरण की क्रिया में अपनी-पराई का समन्वय हो जाता है। दूसरों की बात का सार ग्रहण करने को तैयार रहता हूँ किन्तु अपनी बात को भी हेय नहीं समझता। भारतीय समन्वयवाद मेरे जीवन का लक्ष्य रहा है। इस समन्वयवाद से एकनिष्ठ लोग अप्रसन्न भी रहते हैं, किन्तु मैं समझता हूँ कि यदि मैं भूल भी

करता हूँ तो वह सत्य की प्रतिष्ठा की ओर ले जाने वाली होती है। मेरी आलोचनाओं में भी यही सारग्राहिता रहती है। इससे लेखक लोग तो प्रसन्न रहते हैं, किन्तु अन्य आलोचक उनको कभी-कभी निर्जीव कहने पर उतारू हो जाते हैं।

मेरी आलोचना खीर और मक्खन की सी मीठी, स्निग्ध और मुलायम होती है। कहीं-कहीं कोई व्यंग्य का बादाम निकल आता है। यद्यपि मैं स्वार्थी अवश्य रहा हूँ तथापि मैंने परकीर्ति को नष्ट करके कीर्ति नहीं चाही है। स्वार्थी होकर भी सिद्धान्ततः मानवतावादी रहा हूँ। 'परहित निरत निरन्तर मन क्रम वचन नेम निबहोंगो' के संकल्प को तो आलस्य और स्वार्थवश न निभा सका किन्तु 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः' का मानसिक शिव-संकल्प चारपाई पर पड़े-पड़े कम से कम अपने स्वजनों के लिए अवश्य कर लेता हूँ। बीभत्सता से मैं सदा बचता आया हूँ, शालीनता का सदा मान किया और सौन्दर्य से, चाहे वह बाह्य हो और चाहे आन्तरिक, सदा आकर्षित होता रहा हूँ; वह मन में एक अपूर्व सुखद साम्य उपस्थित कर देता है। मैंने अपनी सौन्दर्योपासना को यथासम्भव सात्विक बनाने का प्रयत्न किया है। कालिदास का यह वचन कि 'यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः' अर्थात् यह जो कहा जाता है कि रूप पाप वृत्ति के लिए नहीं बिलकुल ठीक है, मुझे भी यह सोलह आने नहीं तो चौदह आने अवश्य ठीक मालूम पड़ता है—विशेषकर इसलिए कि पाप-पुण्य के बीच की रेखा निर्धारित करना बहुत कठिन है।

क्रियाशीलता में सिद्धान्ततः विश्वास रखते हुए, घोर गंभीर अध्ययन में मनोयोग नहीं दे पाता हूँ। मैं ज्ञान मन्दिर की देहली से ही उसकी सौम्य मूर्ति झाँक सका हूँ। उसके भीतर प्रवेश के लिए परिश्रम किया पर प्राप्त करने में असमर्थ रहा हूँ। मेरे ज्ञान में भी एकनिष्ठता नहीं है। इसलिए मैं साहित्य और आलोचना के विषय में अपने को पिछड़ा हुआ पाता हूँ। इसलिए इन वैयक्तिक निबन्धों में मन रमा लेता हूँ और कभी मनोविज्ञान और दर्शन की चर्चा कर लेता हूँ। धन के अभाव में अर्जित यश और पूर्वकृत पुण्यों के आधार पर जीवन-यात्रा चला रहा हूँ और आशा करता हूँ कि चौदह को पाँच से गुणा करने में सफल हो जाऊँगा और पन्द्रह

का पहाड़ा पंजे तक पढ़ गया तो अपने को पूर्णकाम समझूँगा क्योंकि 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः (ईशावास्य) (मैं शत की इच्छा नहीं करता, न वे मुझे प्राप्त हो सकते हैं)।

इतनी और इनसे अधिक न्यूनताओं के होते हुए भी घर में और बाहर स्नेह की पूर्ण मात्रा मिली, इसी से इस जीवन-दीप में ज्योति बनी हुई है। मुझे इस बात का हर्ष है कि मैं राजनीतिक सत्ता से वंचित रहा हूँ, इससे मुझे अपने प्रशंसकों की ईमानदारी में सन्देह करने की गुंजाइश नहीं रहती, उनके वचनों में चाटुकारिता की गंध नहीं रहती।

मैं सबसे पहले जल में लक्ष्मी का प्रादुर्भाव करने वाले और विष को अमृत बनाकर उसका मदिरा के साथ योग देकर तीनों का बन्धुत्व प्रमाणित करने वाले डाक्टरों का, जिनकी कृपा से मैंने पसठ वर्ष पूरे किये और मैं ओरियेन्टल बीमा कम्पनी की अत्यधिक सतर्कता का, जिसके वश उन्होंने साठ वर्ष की मियाद का बीमा करने से इन्कार कर दिया था, उपहास कर सका; विद्वानों का जिनके सम्पर्क में आकर बहुत कुछ सीखा; प्रकाशकों का जिनकी कृपा से काले अक्षर भैंस के समान दुधार बन गये; और अन्त में जगदाधार ईश्वर का, जिसने नीचे के श्लोक में दिये हुए एक सद्गृहस्थ के प्रायः सभी उपकरण मेरे लिए उपस्थित कर दिये हैं, हृदय से अनुगृहीत हूँ।

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता मनोहारिणी
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषिति रतिः सेवारताः सेवकाः।
आतिथ्यं सुरपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे
साधोः संग उपासना च सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः॥

अब इस अहंवाद की—जिसका प्रायश्चित्त मैं केवल इतना ही कर सकता हूँ कि तीन मास तक दूसरों के अहंवाद की आलोचना न करूँगा क्योंकि अब मैं उनका समानधर्मा बन गया हूँ (अन्तर केवल इतना ही है कि मैं इस अहंवाद की ऊब से पूर्णतया सचेत हूँ)। इतिश्री करता हूँ और अपने पाठकों से उनका समय नष्ट करने के लिए क्षमा-याचना करता हूँ क्योंकि जो कुछ मैंने इसमें लिखा है परहिताय की अपेक्षा आत्माभिव्यक्ति और स्पष्ट शब्दों में कहिए तो आत्म-विज्ञापन के लिए लिखा है। मेरे

जीवन में कोई ऐसी चीज नहीं रही जिसको मैं गर्व से लिखता। जो कुछ लिखा वह सब वाणी-विलास माना है, जिसका लोभ मैं संवरण करने में असमर्थ रहा। वास्तव में मैंने अपने जीवन में कोई बड़ा काम नहीं किया। जिस काम को मैं करने में समर्थ हुआ वह मेरे लिए बड़ा नहीं रहा क्योंकि मैं जानता हूँ कि जिस काम को मैं कर सका उसे कोई भी मूर्ख कर सकता, नहीं तो मैं ही उसे कैसे कर सका ?

[*'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'* (फरवरी, ५३)]

मेरा मकान

मुगल सम्राट् शाहजहाँ जब कैद में थे, तब उनसे पूछा गया कि आप क्या काम करना चाहेंगे? उन्होंने उत्तर दिया—लड़कों को पढ़ाना। इसके प्रत्युत्तर में उनके सआदतमंद पुत्र शाहंशाह औरंगजेब ने फरमाया कि 'अब्बाजान, आपके दिमाग से बादशाहत की बू अभी नहीं गई है।'

छतरपुर राज्य से लौटने पर मैंने भी जैन बोर्डिङ्ग हाउस, आगरे की अनाहारी वा अनारी (Honorary) आश्रमाध्यक्षता (वार्डनशिप) स्वीकार की। लोग कहेंगे, मेरे दिमाग से भी राज्य की बू नहीं गई थी; ठीक है। प्रोफेसरी में तो निजी संबंध का प्रायः अभाव होने के कारण अधिकार की मात्रा कम रहती है, वार्डनशिप में घनिष्ठतर सम्बन्ध होने के कारण वह कुछ अधिक हो जाती है। किन्तु मेरे मत में शासन का अभाव ही शासन की श्रेष्ठता थी (That government is best which governs least)। दुर्भाग्यवश मेरे सिद्धांतों के लिए जैन बोर्डिङ्ग हाउस का वातावरण उपयुक्त न था। विद्यार्थियों में प्रीति का भय बहुत कम था और भय की प्रीति भी अधिक न थी। अधिकारीवर्ग भी 'भय बिन होइ न प्रीति' के पूर्ण अनुयायी और दण्डविधान के घोर समर्थक थे। वे मेरी अपेक्षा आदर्शवादी भी कुछ अधिक थे, बीसवीं शताब्दी की अँगरेजी सभ्यता में पालित-पोषित बाबू लोगों से निशाचरी वृत्ति (रात में चरने या खाने की वृत्ति) छुड़ाना चाहते थे। मैं चाहता था कि राम-राज्य की भाँति, 'दण्ड जतिन कर' ही रह जाय, अर्थात् दण्ड सजा के रूप से उड़ जाय, और दंड (डंडा) केवल संन्यासियों के हाथ में ही रहे, किन्तु रामराज्य कलियुग में कहाँ?

मैं यह अवश्य कहूँगा कि सब विद्यार्थी दंड के अधिकारी न थे। दंड के अधिकारी लोगों ने भी मेरे साथ कभी उद्दंडता का व्यवहार नहीं किया। मेरे प्रति उनका सौजन्य-भाव ही रहा। उनमें इतनी शिक्षा न थी कि वे यह समझें कि बन्धन में ही मुक्ति

है, आत्मसंयम में ही आत्मसम्मान है; वे सज्जन होते हुए भी निशाचर (रात्रि में भोजन करने वाले) बनने से रुक नहीं सकते थे। टेनिस का खेल उनको दीपक जलने से पूर्व खा लेने में बाधक होता था। मुझमें पूज्यपाद निम्बार्काचार्य* की सी सामर्थ्य न थी जो सायंकालीन सूर्य को नीम के पेड़ से नीचे उतरने के लिए कुछ काल तक रोके रहूँ। मैं लड़कों की खेल की स्वाभाविक प्रवृत्ति में बाधक नहीं होना चाहता था। जैन बोर्डिङ्ग हाउस के लिए धन देने वालों की सायंकाल से पूर्व भोजन कर लेने की सदिच्छा से मैं विद्यार्थियों को अवश्य अवगत करा देता था। अधिकारियों का भी मेरे प्रति सौजन्य ही रहा, इसीलिए मतभेद होते हुए भी कोई वैमनस्य नहीं हुआ।

मैं यह समझता था कि स्वर्ग से भी पुण्य क्षीण होने पर लोग मर्त्यलोक में भेज दिये जाते हैं, फिर राज्य और अधिकार के लिए भाग्य का बहुत दिन आश्रय लेना बुद्धिमानी का काम नहीं था। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी ने पिता की आज्ञा से राज्य को 'कीर के कागर ज्यों' और 'बटाऊ की नाईं' छोड़ दिया था और इस युग में भी सम्राट् एडवर्ड अष्टम को ऐसे राज्य को छोड़ने में, जिस पर कभी सूर्यास्त नहीं होता, एक मुहूर्त की भी देर न हुई, तो मुझे अपने छोटे से राज्य को छोड़ने में देर लगाना स्वार्थपरायणता की पराकाष्ठा प्रतीत हुई। अन्त में मुझे कभी न कभी वह पद छोड़ना ही पड़ता। गोस्वामी तुलसीदासजी के निम्नलिखित कथन का सहारा मिल गया—'अन्तहु तोहि तजेंगे पामर तू काहे न तज अब ही ते'। मैंने त्यागपत्र भेज दिया। त्यागपत्र सखेद स्वीकार भी हो गया। इतने में ग्रीष्मावकाश आगया, मुझे पेन्शन-स्वरूप अधि-

* कहा जाता है कि एक श्री निम्बार्काचार्य का एक जैन पंडित से शास्त्रार्थ हुआ और शास्त्रार्थ होते-होते शाम होगई। जैनाचार्य जी भोजन के लिए जाना चाहते थे और शास्त्रार्थ समाप्त करने के लिए उत्सुक हो उठे। श्री निम्बार्काचार्य ने शास्त्रार्थ का आनन्द जारी रखने के लिए सूर्य देव से कह दिया कि जब तक शास्त्रार्थ समाप्त न हो और जैनाचार्य भोजन न करलें तब तक सूर्य देव सामने के नीम से नीचे न उतरें। इसी से उनका नाम निम्बार्क पड़ा। निम्ब = नीम + अर्क = सूर्य।

कारियों के सौजन्य-वश बोर्डिङ्ग हाउस के क्वार्टरों में दो मास और ठहरने की बिना माँगे आज्ञा मिल गई।

आज्ञा तो मिली, किन्तु मुझे नीति-वाक्य याद आया कि 'स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते केशाः दन्ताः नखाः नराः' इसलिए मैंने भविष्य के बारे में विचार किया। किराए के मकान मिल सकते थे। थोड़े किराए के मकान पसन्द नहीं आते और अच्छे मकानों का किराया इतना अधिक था कि इसके प्रतिमास अदा करने में मेरे पैर सौर से बाहर निकल जाते। भूखों नहीं तो जाड़ों अवश्य मर जाता।

जलेसर में मेरा पैतृक घर है, किन्तु वहाँ न तो बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध और न मेरे स्वाध्याय का सुभीता था। वहाँ चुङ्गी की चर्चा और निरीह जर्जरितकाय किसानों को आतङ्कभाव से दबाने और मरों को मारने की शेखी बघारने वाले शाहमदारों, सत्ताधिकारी जमींदारों तथा अनारी मजिस्ट्रेटों की गर्वोक्तियाँ सुनने के सिवा क्या रक्खा था? यद्यपि मैं क्षीण-तेज था तथापि मुझमें दूसरों का प्रताप न सहने वाला सहज स्वभाव बना हुआ था, फिर जलेसर में मेरी कहाँ गुजर?

आगरा में विद्यार्थी जीवन व्यतीत करने के कारण उससे विशेष मोह हो गया है। उसको छोड़ने की इच्छा नहीं होती। लोमश ऋषि को आदर्श मानकर मकान बनाने के, सिद्धान्त रूप से, मैं खिलाफ हूँ। लोमश ऋषि की इतनी आयु है कि जब ब्रह्मा का एक वर्ष होता है, तब वे अपने शरीर का एक बाल नोचकर फेंकते हैं और इस प्रकार जब उनके सारे शरीर के बाल निकल जायँगे, तब उनकी मृत्यु होगी। वे भी अनित्यता के भय से मकान नहीं बनाते, और अपनी झोंपड़ी को आज तक सिर पर लिये फिरते हैं।

मेरे आर्थिक सलाहकार भी मकान बनाने में सहमत न थे। किन्तु चिड़ियाँ अपने नीड़ में विश्राम लेती हैं, साँप के भी बाँबी होती है, भेड़िया अपनी माँद में रहता है, चूहे भी अपने लिए बिल खोद लेते हैं, तो मेरे शरीर को आतप और मेघ से सुरक्षित रखने के लिए एक टूटा-फूटा मकान भी न हो! आत्मभाव जाग उठा—'धिग पौरुषं, धिगैश्वर्यम्।' मैं सोचने लगा, दीन सुदामा के

पास भी शायद एक झोंपड़ी थी। यदि किराए की झोंपड़ी होती, तो कृष्ण भगवान् उसके स्थान में सोने के महल न बनवाते क्योंकि मालिक मकान उन्हें अपने बतलाने लगता।

किराए के मकान के सम्बन्ध में कॉलरिज आदि अङ्गरेजी के सुकवियों की करुण कथाएँ पढ़ी थीं। सुना जाता है, एक बार वे बड़ी सुन्दर कविता लिख रहे थे, जिसे उन्होंने स्वप्न में रचा था। वह संसार की सर्वोत्तम कविताओं में से एक होती, किन्तु वे कुछ ही पंक्तियाँ लिख पाये थे कि मकान वाले ने आकर घोर तकाजा किया और कवि महोदय की जिह्वाग्र सरस्वती हंसारूढ़ हो ब्रह्मलोक चली गई। संसार एक सुन्दर कविता से वंचित रह गया। यह कथा पढ़ने के पश्चात् मुझे किराए के मकानों से चिढ़ सी हो गई है। मुफ्त के मकान अब भाग्य में कहाँ? जेल जाने की शरीर में सामर्थ्य नहीं। (पीछे से मेरे कृपालु पं० हरिशङ्कर शर्मा और महेन्द्रजी जेल की साहित्यिक गोष्ठी पूरी करने के लिए मुझे वहाँ बुलाना चाहते थे। उन दिनों किसी को जेल बुलाना कठिन न था। दो-चार संकेतपूर्ण पत्र किसी व्यक्ति के नाम लिखना पर्याप्त था। सी० आई० डी० की शनिदृष्टि उस पर पड़ जाती। किन्तु उन लोगों ने दयावश मुझे जेल जाने के सुयश से वञ्चित रखा।) अस-बस, अपना ही मकान बनाने का कठोर सङ्कल्प किया। अच्छा है, मकान बनेगा, तो कुछ शगल ही मिल जायगा। पढ़ने से ऊबे हुए मन को कुछ व्यसन न होना मुझे अखरता भी था। इस सम्बन्ध में मैंने एक सवैया भी लिखा है—

> तास छुए नहिं हाथन सों, सतरंजहु में नहिं बुद्धि लगाई।
> टेनिस-गेम सुहाय नहीं, फुटबॉलहु पै नहिं लात जमाई॥
> केरम-मर्म न जान्यहु, पेखत क्रीकेट-कंदुक देत दुहाई।
> जीवन को सुख पायु न रंचक, लेखन में निज बैस गमाई॥

जब मैं किसी बात का सङ्कल्प कर लेता हूँ, तो उसकी पूर्ति के लिए अन्धप्राय हो जाता हूँ। आवेशवश आगा-पीछा नहीं देखता। कल्पना के कल्पतरु के नीचे बैठे नये मकान के स्वर्णमय स्वप्न देखने लगा। मैं सोचता था, थोड़ासा ही द्रव्य लगाकर एक छोटासा मकान बनाकर उन्मुक्त वातावरण में रहूँगा। मकान के लिए जमीन तलाशने लगा। जहाँ मैं जमीन चाहता था,

वहाँ की एक-एक इञ्च जमीन बिक चुकी थी। बिकी हुई जमीन में से बहुत अच्छी जमीन कुछ अधिक दामों में मिलती थी। किन्तु जिस प्रकार सिंह दूसरे का मारा हुआ शिकार नहीं खाता उसी प्रकार मैं दूसरे की खरीदी हुई जमीन में से एक भाग खरीदना पसन्द नहीं करता था। उसके गुण भी मुझे अवगुण प्रतीत होने लगे।

एक गढ़ा अछूता था। प्रेमान्ध की भाँति उसके प्रत्यक्ष दोष भी मैं न देख सका। जमींदार महोदय ने मेरे सिर पर ऐसी उल्लू की लकड़ी फेरी कि मैं छः महीने के लिए नहीं तो छः दिन के लिए अवश्य अन्धा हो गया। मैंने उस जमीन के कुछ दोष बतलाये किन्तु उन्होंने कहा—बस, दो-ढाई सौ रुपये में गढ़ा भर जायगा, और जमीन एक रुपये गज से दो रुपये गज की हो जायगी। मालूम नहीं, पंडित बसन्तलाल ने आदमी से गधा बनाने की विद्या, बिना बङ्गाल गये ही, कहाँ से सीख ली थी। कहने के ढङ्ग में जादू होता है। सत्तू के मुकाबले धान अच्छे बतलाये जा सकते हैं—"स''''त्तू ३, मल''''म''''त्त ३ जब घो''''रे ३, तब खा''''ये ३, तब चले; धान बिचारे भले, कूटे-खाये चले।"

दो सौ रुपये में गढ़ा भर जाने की बात में आ गया, और बात की बात में बयनामा करा लिया। बयनामा के समय कचहरी का सच्चा अर्थ मालूम हो गया—"कचं केशं हरतीति कचहरी।" जो कुछ जोड़-बतोड़, काढ़-मूसकर रुपये ले गया था, सब उठ गये। हिन्दी का पक्षपाती होता हुआ उर्दू की लिखाई के लिए रुपये खर्च किये। हक के भव्य नाम से पुकारी जाने वाली रिश्वत भी दी। मई के महीने की मुँह पर चपेट मारने वाली लू का तो कहना ही क्या था। स्वर्ग के स्वप्न को थोड़े ही में वास्तविक रूप देना उसके लिए कुछ कठिन न था। पूर्वजों के पुण्य-प्रताप और आप लोगों के आशीर्वाद से सकुशल घर लौट आया। "जान बची लाखों पाये।" इतना सन्तोष अवश्य हुआ कि १।) रुपये साल का मालगुजार जमींदार बन गया। मालूम नहीं, अब मैं कर्ज के कानून का लाभ उठा सकूँगा या नहीं। (अब जिमींदारी का भी स्वप्न गया।)

जमीन मिलते ही कारीगर व ठेकेदार उसी भाँति मँड़राने लगे, जिस प्रकार मुर्दे को देखकर गिद्ध मँड़राते हैं। मुझे भी अपनी

महत्ता का भान होने लगा। जब से रियासत छोड़ी थी, लोग मेरे पीछे नहीं चलते थे और इक्के ताँगे वाले के सिवा कोई मुझसे 'हुजूर' नहीं कहता था। अब एकदम 'हुजूर', 'साहब' और 'गरीब-परवर', 'अन्नदाता' सब कुछ बन गया।

विघ्नों का भय सामने था, किन्तु मुझे महात्मा भर्तृहरि के वाक्य याद आये कि नीच लोग विघ्न के भय से कार्य प्रारम्भ नहीं करते—'प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः।' अच्छे आदमी तो विघ्न आने पर भी अपने उद्देश्य से नहीं टलते। मैं अपने को अच्छा ही आदमी सिद्ध करना चाहता था, और आँख बन्द कर गढ़े में मकान बनाने के कार्यक्रम गढ़े में कूद पड़ा। नकशा बना, उसमें पैसे के सुभीते के अतिरिक्त सभी सुभीते देखे गये। लाख विश्वास दिलाने पर भी (केवल गङ्गाजली नहीं उठाई) ठेकेदार को विश्वास न हुआ कि मैं गरीब आदमी हूँ। दिल्ली-दरवाजे मकान बनाने वाले सभी लोग सम्पन्न गिने जाते हैं, किन्तु ठेकेदार यह भूल जाता है कि काबुल में भी गधे होते हैं।

बुद्धिमान पुरुष का यह कर्तव्य होता है कि पहले व्यय का अनुमान कराकर कार्य प्रारम्भ करे। मैं अनुमान इस भय से नहीं कराता था कि शायद भारी रकम देखकर कार्यारंभ ही न कर सकूँ, और कहीं मेरा सोने का घर मिट्टी में न मिल जाय। बिना आगा-पीछा देखे, विघ्नेश का नाम लेकर, नींव खुदना शुरू हुई। नींव के लिए मैं समझता था, गढ़े में होने के कारण कम खुदाई की आवश्यकता होगी। जिधर गढ़ा नहीं था उधर थोड़ी ही दूर पर पक्की जमीन निकल आई और गढ़े की ओर जितना खोदा जाता उतनी ही पक्की जमीन दूर होती जाती। नींव जैसे-जैसे नीचे जाती वैसे-वैसे ही मेरा दिल भी गढ़े में बैठता जाता। पृथ्वी पर जो कुदाली चलती वह मानो मेरी छाती पर ही चलती। लोग पूछते, क्या 'प्रोग्रेस' (उन्नति) हो रही है; मैं कहता, भाई, प्रोग्रेस नहीं, रिग्रेस (अवनति) हो रही है। नींव जितनी गहरी जाती उतना ही आशा का क्षितिज दूर हटता। मैं सोचता—कहीं पुराने जमाने की बात न हो जाय कि नींव तब भरी जाती थी, जब पानी चूने लगे। खैर राम-राम कर सात फीट पर पक्की जमीन के दर्शन हुए। उतनी ही प्रसन्नता हुई, जितनी जहाज के यात्री को समुद्र का

किनारा देखने पर हो। कुछ किफायतसारी करने की बात चलाई। सभी ने एक कंठ से बड़ी बुद्धिमत्ता प्रदर्शित करते हुए, तहखाने का परामर्श दिया, मानो तहखाना कोई ऐसा मंतर था, जिससे मेरी कठिनाइयों का अन्त हो जायगा।

तहखाना बनना शुरू हुआ, और ईंट-चूने का स्वाहा होने लगा। जनमेजय के नागयज्ञ की भाँति शाम तक एक-एक ईंट का हवन हो जाता। जब काम जोरों से चला तो यदि ईंट हो तो चूना नहीं, और चूना हो तो ईंट नहीं। 'शाकाय वा लवणाय वा' की बात हो गई। दाल हो तो रोटी नहीं, और रोटी हो तो दाल नहीं।

मकान गढ़े में होने के कारण ठेकेदार को दीवारों को खूब विस्तृत करने का अवसर मिल गया। जितना दीवारों का आकार बढ़ता उतना ही सुरसा के मुख की भाँति उसके बिल का विस्तार बढ़ता। मैं यह कहते-कहते थक गया कि भाई, मैं घर बना रहा हूँ, किला नहीं, किन्तु वह यह कहते-कहते न थकते कि हुजूर, दरिया में मकान बना रहे हैं, मुझे कुछ नहीं, आप ही को पछताना पड़ेगा।

मेरे मित्र और सलाहकारों ने भी ठेकेदार का ही पक्ष लिया और मुझे ऐसा भय दिखलाया मानो प्रलय-पयोधि उमड़कर इस छोटेसे गढ़े में भर जाने वाला है या हजरत नूह के तूफान का प्रतिरूप उस तलैया में तैयार होने की खबर मिली है। मुझे भी पंचों की राय के आगे सिर झुकाना पड़ा। "पंच कहें बिल्ली, तो बिल्ली ही सही।" मैंने भी सोचा, "जब ओखली में सर दिया तो चोटों से क्या डरना?" चूने का बिल बड़ा लम्बा-चौड़ा आया। मेरे मित्र ने उसे देखकर कहा कि ठेकेदार और चूने वाले ने मिलकर अवश्य चूना लगाया।

लखनऊ-निवासी मेरे मित्र शिवकुमारजी ने आशीर्वाद दिया कि तुम्हें गढ़े में गुप्त धन गढ़ा मिल जायगा। मैंने कहा कि गढ़ा हुआ धन तो क्या मिलेगा, किन्तु मैं अपना कठिनता से संचित किया हुआ धन ईंटों के रूप में पृथ्वी में गाड़ रहा हूँ।

पुराने लोग भी धन जमीन में ही गाड़ते थे। सनातन धर्म की रीति से मेरा रुपया वसुन्धरा बैंक में जमा होने लगा। मेरे एक मित्र ने मुझे घबराते हुए देखकर कहा, "अभी तो इब्तिदा-ए-इश्क

है, रोता है क्या, आगे-आगे देखिए होता है क्या ?" मैंने कहा, बस आगे यही होना है कि धन का स्वाहा कर संन्यास धारण कर लूँ। पहले लोग वर्णमाला का इस प्रकार अर्थ लगाते थे—'क' से कमाओ, 'ख' से खाओ, 'ग' से गाओ, प्रसन्न रहो, और सब के पीछे धन और शक्ति रहे, तो 'घ' से घर बनाओ। मैं आजकल 'घ' को सबसे पहला स्थान दे रहा हूँ।

पक्की जमीन से दीवारें सात फीट ऊपर आई हैं। हाथी-डुबान नहीं, तो मुझ ऐसे शर्मदार, पस्तःकद और परतहिम्मत मनुष्य-डुबान तो नींव गहरी हो गई है। अशरफुल मखलूक़ात मैं हाथी से किस बात में कम हूँ ? फिर भी अभी 'दिल्ली दूरस्त' की भाँति प्लिन्थ दूर है। शायद दिल्ली-दरवाजे मकान बनाने का प्रभाव हो। जिस बात को मैंने दिल-बहलाव की चीज समझा था, वह अब बवाल-जान बन गई है। चन्दन घिसना ही दूसरा दर्द-सर हो गया है। लोग कहते हैं, "देर आयद, दुरुस्त आयद।" जली तो जली, पर सिकी अच्छी। अब तकलीफ उठाते हो तो पीछे से आराम मिलेगा। किन्तु भाई साहब ! मुझे तो नौ नकद चाहिए, तेरह उधार नहीं। अभी तो गढ़े की जमीन में इतनी भी गुञ्जाइश नहीं कि एक छप्पर डाल कर दुपहरी में (रात में नहीं) वहीं सो जाया करूँ। रुपया खर्च करने पर इतना ही संतोष मिला है कि एक दिन की वर्षा से गढ़े भर जाने के कारण वेद-ध्वनि से समता रखने वाली दादुर-ध्वनि चारों ओर से सुनाई पड़ी है, और बाबा तुलसीदासजी की निम्नलिखित चौपाई याद आ जाती है—

'दादुर धुनि चहुँ ओर सुहाई,
वेद पढ़हिं जिमि बटु समुदाई।'

पहले जमाने में वेद-पाठ सुनने के लिए राजा-महाराजा लोग हजारों रुपया खर्च कर देते थे। इस कलियुग में दादुर-ध्वनि सुनने के लिए पाँच-सात हजार खर्च हो जायँ, तो कौन बुराई है ? दूसरा सन्तोष यह है कि मैं स्वयं ठग गया, दूसरे को नहीं ठगा। कबीरदास की भी यही शिक्षा है—

'कबिरा' आप ठगाइए, और न ठगिए कोय।
आप ठगा सुख होत है, और ठगे दुख होय॥

रोज प्रातःकाल ईंटों के तकाजे के लिए भट्टे पर जाना पड़ता

है। साम-दाम-दण्ड-भेद सब उपाय करने पर दो हज़ार ईंटें पहुँच पाती हैं, जिसे हमारे विश्वकर्मा के अवतार मिस्टर भोंदाराम कान्ट्रैक्टरजी ऊँट के मुँह के जीरे से भी कम बतलाते हैं। मेरी चरम साधना के फल को इस प्रकार तिरस्कृत होते देखकर सात्त्विक रोष आ जाता है। मैं चाहता हूँ कि इन सब झंझटों से कहीं दूर भाग जाऊँ। शग़ल बहुत हो लिया, उससे आरी आ गया, किन्तु अब दूर भी नहीं भागा जाता। साँप-छछूँदर की सी गति हो रही है। मेरा उस साधु का सा हाल हुआ जिसने कम्बल के धोके तैरते हुए रीछ को पकड़ लिया था फिर उस कम्बल को छोड़ना चाहता था लेकिन कम्बल उसे नहीं छोड़ता था। कहाँ प्रातःकाल का ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्य-रसास्वादन और कहाँ ईंट के भट्टों की हाजिरी? कहाँ वेदान्तवार्ता और कहाँ भुस का भाव? किन्तु अब क्या किया जाय?

"सो माया बस भयौ गुसाईं;
बँध्यौ कीर-मरकट की नाईं।"

बस, मायाधीश भगवान् ही इस मायाजाल से मुक्त करें तो मुक्त हो सकता हूँ, नहीं तो कोई छुटकारा नहीं। त्राहि माम्! त्राहि माम्! त्राहि माम्!

२

मुसलमानों के यहाँ मुसव्विरी करना गुनाह समझा जाता है, क्योंकि चित्रकार एक प्रकार से खुदा की बराबरी करने की स्पर्द्धा करता है। शायद इसीलिए अल्लाह-ताला लेखकों से भी नाराज रहते हैं क्योंकि वे भी अपने रचनात्मक कार्य द्वारा परमात्मा की होड़ करते हैं। कवियों ने अपनी रचना को एकदम परमात्मा की सृष्टि से भी बढ़ा हुआ बतला दिया है। काव्यप्रकाश के कर्त्ता मम्मटाचार्य ने कहा है कि कवि की भारती विधि की सृष्टि से परे और शुद्ध आल्हाद से बनी हुई है। भगवान् की सृष्टि में तो शुद्ध आल्हाद बिजली के प्रकाश में भी खोजने पर बड़ी मुश्किल से मिलता है किन्तु लेखक अपनी कल्पना की उड़ान में उसे सुलभ बना देते हैं। फिर परमात्मा लेखकों से क्यों न रूठें? यदि लेखक लोग शब्दों के महल और हवाई किलों के अलावा ईंट-चूने के मकान बनाने का भी साहस करें तो नीम चढ़े करेले की बात हो

जाय। ईश्वर मनुष्य की इस डबल स्पर्द्धा को कहाँ सहन कर सकते ?

मेरे साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। ठोक-पीटकर लोगों ने मुझे लेखक-राज बना ही दिया और मैं स्वयं भी अपने को पाँचवें सवारों में गिनने लग गया। अपने को बड़ा आदमी समझने के कारण ही छतरपुर से नौकरी छोड़ने के पश्चात् दूसरी जगह की नौकरी न निभा सका। नौकरी करना तो टेढ़ी खीर है। उसमें बड़े आत्म-संयम की जरूरत है, किन्तु मैं तो जैन बोर्डिङ्ग हाउस के लड़कों को कायदे के घेरे में बन्द रखने का बाइज्जत काम भी न संभाल सका। अब यदि इतने पर भी सन्तुष्ट रहता तो गनीमत थी – बाप-दादों की नहीं, अपनी ही भलमनसाहत लिये बैठा रहता तब तक विशेष हानि नहीं थी।

दूसरे प्रोफेसरों को कोठियों में रहते देख (मैं भी प्रोफेसरों में करीब-करीब बेमुल्क का नवाब हूँ) मुझे भी कोठी बनाने का शौक चर्राया। मेरे सामने दो आदर्श थे। श्री भोंदारामजी ठेकेदार तो चाहते थे कि अकबर की इस नगरी में कम से कम लाल पत्थर के किले की टक्कर का एक दूसरा किला बनवाऊँ और मेरी इच्छा थी कि अपने पड़ोस के काछियों के अनुकरण में एक झोंपड़ी डाल लूँ। इन्हीं परस्पर विरोधिनी इच्छाओं के फलस्वरूप मेरा मकान तैयार हो गया जो अभी सामने से एक-मंजिला है और पीछे से दुमंजिला है।

मैं चाहता तो था झोंपड़ी ही बनाना, परन्तु जिस प्रकार पूर्व-जन्म के संस्कारों पर विजय पाना कठिन हो जाता है उसी प्रकार नींव की दीवारें चौड़ी चिनकर उन पर झोंपड़ी बनाना असंभव हो गया। प्रत्यक्ष रूप से मूर्ख कहे जाने का भार अपने ऊपर लेने को मैं तैयार न था। जब लोग इतनी बड़ी ब्रिटिश सरकार को 'टॉप हेवी' कहने में नहीं चूकते, तो मेरे मकान को 'बॉटम हेवी' कहने से किसका मुँह बन्द किया जाता। 'टॉप हेवी' के लिए तो एक बहाना भी है—'सिर बड़ा सरदार का', मेरे पास कोई बहाना न था। मैं शहर में रहकर गँवार नहीं बनना चाहता था। मकान फूस से क्या लकड़ी से भी न पटा, उसमें डाटें लगाई गईं। इस सम्बन्ध में मेरे छोटे भाई बाबू रामचन्द्र गुप्त तथा मेरी श्रीमतीजी के बड़े

भाई लाला कालीचरणजी ने ठेकेदार महोदय को कई बार डाट-फटकार बताने का मौका पाया।

अब मैं डाट का अर्थ समझ गया—डाट ईंट-चूने की उस बनावट को कहते हैं जो सदा अपना भार लिये धूप और मेह के साथ रण में डटी रहती है, किन्तु उसे डटी रखने के लिए स्वयं धूप और मेह की पर्वाह न करके डटा रहना पड़ता है और समय-समय पर ठेकेदार को भी डाट देनी पड़ती है। इस प्रकार मेरा शब्दकोष (अर्थकोष नहीं) बहुत बढ़ गया है। अब मैं कड़ी, डाढ़ा, चीरा, हॉफ-सेट, होल-पास, नासिक, चश्मा, ठेयी आदि वास्तुकला के पारिभाषिक शब्दों का अर्थ समझने लगा हूँ। एक बात और भी मालूम हो गई है। आजकल की सभ्यता की काट-छाँट का प्रभाव वास्तुकला पर भी पड़ा है। इस युग में मूँछें कट-छटकर तितली बनीं और फिर तितली बनकर उड़ गईं। कोट आधे हो गये। पैंट भी शॉर्ट हो गई। कमीज की बाँहें और गले मुख्तसर बनने लगे। जूतों का स्थान चप्पल और सैन्डलों ने ले लिया। नाटक एकाङ्की ही रह गया। इसी प्रकार मकानों में चौखट न बनकर तिखट बनने लगी। आजकल की चौखटों के नीचे की बाजू नहीं होती। सूर के बालकृष्ण को देहली लाँघने में जो कठिनाई हुई थी वह मेरे नाती-पोतों को नहीं होगी।

अर्थकोष के क्षय के साथ शब्दकोष की वृद्धि उचित न्याय है—'एवज मावजा गिला न दारद।' इधर का लेखा उधर बराबर हो गया। और नहीं तो परिवृत्ति अलंकार का एक नया उदाहरण मिल गया है। बेर देकर मोती लेना कहूँ या इसका उल्टा?

जिस प्रकार शुरू में जनमेजय के नागयज्ञ की तरह ईंट-चूने का स्वाहा होता था उसी प्रकार पीछे धन का स्वाहा होने लगा, और मैं भी घर-फूँक तमाशा देखने का अस्पृहणीय सुख अनुभव करने लगा। एक के बाद दूसरी पासबुक चुकती हुई, फिर कैश-सर्टिफिकेटों पर नौबत आई और पीछे रिजर्व बैंक के शेयर वारंट भी, जो भाग्यशालियों को ही मिले थे, अछूते न रहे। वे बेचारे भी काम आये। मैं 'पुरुष-पुरातन की वधू' के मादक संसर्ग से मुक्त हो गया। अस्तु, यह थोड़ा लाभ नहीं। कविवर बिहारीलाल ने कहा है—

"कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वा खाये बौराय नर, वा पाये बौराय ॥"

अब मुझे कनक (धन) मद न सता पायगा, और मैं बौराया न कहाऊँगा। दार्शनिक के नाते यदि कोई मुझे पागल कह लेता, तो मैं इसे दार्शनिक होने का प्रमाणपत्र मानकर प्रसन्न होता, किन्तु धन-मद से लाञ्छित होना मैं पाप समझता हूँ। कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल पर अनन्त श्रद्धा रखता हुआ भी मैं यह कहने को तैयार हूँ कि धन के मद से तो भंग-भवानी और वारुणी देवी का मद ही श्रेयस्कर है। इसमें अपना ही अपमान होता है, दूसरे का तो नहीं।

एक महाशय ने मेरे घर के तहखाने को देखकर कहा कि आपके घर में ठण्डक तो खूब रहती होगी? मैंने उत्तर दिया, जी हाँ, जब रुपये की गर्मी न रही, तब ठण्डक रहना एक वैज्ञानिक सत्य ही है। इस पर उन्होंने तहखानों के सम्बन्ध में सेनापति का निम्नलिखित छन्द सुनाया—

"सेनापति ऊँचे दिनकर के चुवति लुवैं,
नद नदी, कुँवैं कोपि डारत सुखाइ कै।
चलत पवन, मुरझात उपवन, वन,
लाग्यौ है तपन, डार्‌यो भूतलौं तपाइ कै।
भीषम तपत रितु, ग्रीषम सकुचि तातैं,
सीरक छिपी है, तहखानन में जाइ कै।
मानौ सीत-कालैं सोत-लता के जमाइबे कौं,
राखे हैं बिरंचि बीज धरा में धराइ कै।"

मैंने कहा, भाई साहब, वस्तु हाथ से गई, फिर छाया भी न मिले, तो पूरा अत्याचार ही ठहरा। पहले के लोगों के तहखाने धन से भरे रहते थे, अब छाया ही सही। यदि गेहूँ नहीं तो भूसा ही गनीमत है।

धन का रोना अधिक न रोऊँगा। अब और लाभ सुनिए। बाहर मकान बनाने का सबसे बड़ा प्रलोभन यह होता है कि उसमें थोड़ी सी खेती-बारी करके अपने को वास्तव में शाकाहारी प्रमाणित किया जाय। मेरी खेती भी उन्हीं लोगों की सी है जिनके लिए कहा गया है—

"कर्महीन खेती करै, बर्ध मरे या सूखा पर।"

जब घर बनवाने के लिए डेढ़ रुपया रोज खर्च करके दूसरे के कुएँ से पैर चलवाकर हौज भरवा लेता था तब तक ही खेती खूब हरी-भरी दिखलाई देती थी। माली महोदय भी "माले मुफ्त दिले बेरहम" की लोकोक्ति का अनुकरण करते हुए पानी की कंजूसी न करते थे। उन दिनों चाँदी की सिंचाई होती थी, फिर भी शाक-पात के दर्शन क्यों न होते? पालक के शाक की क्यारी तो कामधेनु सिद्ध हुई। जितनी काटते उतनी ही बढ़ती। वह वास्तविक अर्थ में पालक थी। गोभी के फूल भी खूब फूले। उन्हें अधिकार से खाया भी क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीता में फलों का ही निषेध किया गया है, पत्तों और फूलों का नहीं। भगवान् ने कहा है— "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।" किन्तु जब मकान बन चुका तो अपने ही आप पानी देने की नौबत आई। अब तो श्रीमद्भगवद्गीता का वाक्य अक्षरशः सत्य होता दिखलाई देता है। दिन-रात सिंचाई के बाद भी पत्र और पुष्प ही दिखलाई देते हैं। खेत सींचने में निष्काम कर्म का आनन्द मिलता है। मेरी खेती पर, मालूम नहीं, अगस्त्यजी की छाया पड़ गई है कि जल से प्लावित क्यारियों में शाम तक पानी का लेशमात्र भी नहीं रहने पाता। बाबा तुलसीदासजी का अनुकरण करते हुए कह सकता हूँ—जैसे खल के हृदय में सन्तों का उपदेश। भगवान् की तरह मैं भी कुएँ पर खड़ा रीतों को भरा और भरों को रीता किया करता हूँ। मालूम नहीं भगवान् इस स्पर्द्धा का क्या बदला देंगे? इतना सन्तोष अवश्य है कि मेरे कुएँ का पानी मीठा निकला है। इसे मैं पूर्वजों का पुण्य-प्रताप ही कहूँगा। कुएँ का जल ऐसा है कि कभी-कभी मुझे कसम खानी पड़ती है कि यह नल का नहीं है। "तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति।" अर्थात् बाप-दादों का कुआँ है, ऐसा कहकर कायर पुरुष खारा पानी पीते हैं। सौभाग्य से मेरी सन्तान के लिए ऐसा न कहा जायगा।

मेरी खेती में से सिर्फ इतना ही लाभ है कि मुझे पौधों की थोड़ी-बहुत पहचान हो गई है। मैं लौकी और काशीफल, टिंडे और करेले के पत्तों में विवेक कर सकता हूँ। मैं देहली दरवाजे रहते हुए भी देहली के उन लोगों में से नहीं हूँ जिन्होंने कभी अपनी उम्र में चने का पेड़ नहीं देखा। बहुत कुछ जमा लगाने पर

मैं यह तो न कहूँगा कि कुछ न जमा। जमा सिर्फ इतना ही कि मेरे यहाँ की भूमि वन्ध्या होने के दोष से बच गई। जिस प्रकार हजरत नूह की किश्ती में सब जानवरों का एक जोड़ा नमूने के तौर पर बच रहा उसी प्रकार मेरी खेती में विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए दो-दो नमूने हर एक चीज के मिल जायँगे और बाबा तुलसीदासजी के शब्दों में यह न कहना पड़ेगा—

'ऊसर बरसे तृण नहिं जामा।
संत हृदय जस उपज न कामा॥'

जमीन को क्यों दोष दूँ ? मेरी खेती पर चिड़ियों की भी विशेष कृपा रहती है। वे मेरे बोए हुए बीज को जमीन में पड़ा नहीं देख सकतीं और मैं भी खेत चुग लिये जाने के पूर्व सचेत नहीं होता। फिर पछतावे से क्या ?

मैं अपनी छोटी सी दुनियाँ में किसानों की अतिवृष्टि, अनावृष्टि, शलभाः, शुकाः सभी ईतियों का अनुभव कर लेता हूँ। सोचा था—वर्षा के दिनों में खेती का राग अच्छा चलेगा किन्तु गड्ढे में होने के कारण साधारण वृष्टि भी अतिवृष्टि का रूप धारण कर लेती है। दो रोज की वर्षा में ही जल-प्लावन हो गया। सृष्टि के आदिम दिनों का दृश्य याद आ गया। मुझे भी अभाव की चपल बालिका चिन्ता का सामना करना पड़ा। पसीना बहा-कर सींचे हुए वृक्ष, जिन्हें बड़ी मुश्किल से ग्रीष्म के घोर आतप से बचा पाया था, जल-समाधि लेकर विदा हो गये। जीवन (जल) ही उनके जीवन का घातक बना।

मैं अपने मकान तक पहुँचने के रास्ते के सम्बन्ध में दो एक बात कहे बिना इस लेख को समाप्त नहीं कर सकता। उससे मुझे जो लाभ हुआ है वह उमर भर नहीं हुआ था। मैंने अपने जीवन में इस बात की कोशिश की थी कि दूसरों को धोका न दूँ; इसलिए मुझे गालियाँ भी शायद ही मिली हों। लेकिन इस सड़क की बदौलत इक्के-ताँगे वालों से रोज गालियाँ सुननी पड़ती हैं। पीठ फेरते ही वे कह उठते हैं—"बेईमान ! दिल्ली दरवाजे की कहकर गाँव के दगड़े में खींच लाया है।" मैं भी उनकी गालियों का विवाह के समान आदर करता हूँ, और चुङ्गी के विधायकों का स्मरण कर लेता हूँ कि "कबहुँक दीनदयाल के भनक पड़ेगी कान।" गाँव की सड़कें भी

इसकी प्रतिद्वन्द्विता नहीं कर सकतीं। बन जाते हुए श्रीरामचन्द्रजी के सम्बन्ध में तुलसीदासजी ने कहा है—"कठिन भूमि कोमल पदगामी।" मेरे लिए शायद उन्हें कहना पड़ता—"कोमल भूमि कठिन पदगामी।" पवित्र ब्रज-रज तथा खाके वतन से पूर्ण इस सड़क में जूते इस प्रकार से समा जाते हैं जैसे किसी साहब के ड्राइङ्गरूम के सोफे में शहर के किसी मोटे रईस का सारा शरीर। यदि कहीं जूतों को धूलि-धूसरित होने से बचाकर उनकी शान रखना चाहूँ, तो दूसरों की कोठी में ट्रेसपास करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं। किन्तु इसमें मेरी शान जाती है। दूसरी कोठियों के निवासी वाणी से तो नहीं किन्तु कभी-कभी मधुर (व्यंग) द्वारा अवश्य विरोध करते हैं।*

रात्रि को जब घर लौटता हूँ तो कबीर के बताये हुए ईश्वर-मार्ग की कनक और कामिनी रूपिणी बाधाओं के समान 'सूद' और 'लाल' की कोठियाँ मिलती हैं। पदध्वनि सुनते ही उनके श्वान-देव उन्मुक्त कण्ठ से मेरा स्वागत करते हैं। उनके लिए मुझे दण्डधारी होकर कभी-कभी उद्दण्ड होना पड़ता है। अब मुझे इन स्वाभाविक पशुओं के नाम भी याद हो गए हैं। एक का नाम टाइगर है और दूसरे का नाम कालू। नामोच्चारण करने से दण्ड का प्रयोग नहीं करना पड़ता। जब इन घाटियों को पार कर लेता हूँ तभी जान में जान आती है। हमारे घरों में ही बिजली का प्रकाश है किन्तु रास्ते में पूर्ण अन्धकार का साम्राज्य रहता है और मुझे उपनिषदों का वाक्य याद आ जाता है "असूर्या नामते लोका अन्धेन तमसा वृता"। मालूम नहीं उसके लिए कौनसे पाप का उदय हो जाता है। "तमसो मा ज्योतिर्गमय" की प्रार्थना करता हुआ जैसे-तैसे राम-राम करके घर पहुँचता हूँ। रोज सवेरा होता है और उन्हीं मुसीबतों का सामना करना पड़ता है।

इन सब आपत्तियों को सहकर भी बस इतना ही संतोष है कि उन्मुक्त वायु का सेवन कर सकता हूँ और बगीचे के होते हुए

---

*चुङ्गी की कृपा से अब कोलतार की सड़क बन गई है। उस काली सड़क ने मेरा और चुङ्गी का मुख उज्ज्वल कर दिया है किन्तु वह प्रेम गली की भाँति अति साँकरी है 'जा में दो न समायँ'।

मुझे यह समस्या नहीं रहती कि क्या करूँ? जूतियाँ सीने से अधिक श्रेयस्कर काम मिल जाता है। शास्त्रकारों का कथन है—

'बेकार मुवाश कुछ किया कर
यदि कुछ न हो तो जूतियाँ सीया कर।'

और कुछ नहीं होता तो खुरपी लेकर क्यारियों को ही निराता रहता हूँ, और चतुर किसानों में अपने गिने जाने कीस्पर्द्धा करता रहता हूँ—"कृषी निरावहिं चतुर किसाना।" पं० रामनरेश त्रिपाठी ने सन की गाँठ के आधार पर बाबा तुलसीदासजी को किसनई का पेशे वाला प्रमाणित किया है। इस बात से मुझे एक बड़ा सन्तोष हो जाता है कि और किसी बात में न सही तो खेती के काम में ही भक्त-शिरोमणि की समानता हो जाय। (अब मैं इस सुख से भी वञ्चित होता जा रहा हूँ। मेरी रुग्णावस्था मुझे उस निष्क्रियता की दशा की ओर प्रेरित कर रही है जो एक सच्चे वेदान्ती के लिए अपेक्षित है।)

अब मेरा यह निष्कर्ष है कि मुझ जैसे बेकार, सकल साधन-हीन आदमी को—जिसके यहाँ न कोई सवारी-शिकारी और न दो-चार नौकर-चाकर हैं (वैसे तो हमारे उपनिवेश के सभी लोग 'स्वयं दासास्तपस्विनः' वाले सिद्धान्त के मानने वाले हैं)—कोठी बनाकर न रहना चाहिए।

['मेरी असफलताएँ']

मेरे नापिताचार्य !

मैं जन्म से वैष्णव हूँ। सभामध्ये ही नहीं, वरन् अन्तःकरण से भी वैष्णवता का पालन करता हूँ। जैनी मेरे पड़ोसी और मित्र हैं। खद्दर और चर्खा को छोड़कर, जिनको मैं पहले अँग्रेजी राज्य में भयवश और अब आलस्यवश नहीं अपना सका, महात्मा गान्धी का अनन्य भक्त हूँ। इस प्रकार मैं करेला और नीम चढ़ा ही नहीं, वरन् त्रिधाशुद्ध 'अहिंसा परमोधर्मः' का अनुयायी हूँ। इसलिए रक्तपात से, चाहे अपना हो या पराया, मैं सदा बचता रहा हूँ। मधुमेही होने के कारण मुझे अङ्गुलों के सदोष हो जाने की सदा आशङ्का बनी रहती है, इसलिए भौतिक विवशता को धर्म मानकर मैं अपने को रक्तपात से बचाये रखने की ओर विशेष ध्यान रखता हूँ। इसी भय से साम्प्रदायिक झगड़ों के पास नहीं फटकता। फिर भी जब मैं आधुनिकतम सुशिक्षित लोगों के अनुकरण में 'स्वयंसेवक' वृत्ति को धारण किए हुए था और 'स्वयं दासाः तपस्विनः' की श्रेणी में आने के लिए प्रयत्नशील रहता था, तब मैं अपने को स्व-रक्तपात से नहीं बचा सका। अभी तक अख-बारी विज्ञापनों का नित्य स्वाध्याय और पारायण करने पर भी मेरी जानकारी में ऐसा कोई अकौशलोपेक्षक, सुरक्षापूर्ण क्षौरयन्त्र नहीं आया है, जो मुझ जैसे मूर्ख और अकार्यकुशल व्यक्ति को चुनौती दे सके। रक्तपात के भय से ही वैदिक लोग मुण्डन संस्कार से पूर्व छुरे की प्रार्थना किया करते थे। जिलेट से लगा-कर ढाई आने तक के उस्तरों को मैंने आजमाया, किन्तु वे मुझे अपने रक्तपात से बचाने में उतने ही असमर्थ रहे, जितनी कि यू० एन० ओ० की सुरक्षा-परिषद् राष्ट्रों को रक्तपात से बचाने में। बाल बीरबधूटी सी एक-आध रक्तबिन्दु मेरे मुख-मण्डल पर झलक ही आती थी और मेरे शरीर में रक्तकोष मेरे बैंक के धन-शेष से अधिक सम्पन्न नहीं है। इसीलिए अपने जीवनकाल में ही अपने सेफ्टीरेजर का उत्तराधिकार अपने द्वितीय पुत्र को, जो डाक्टर है, प्रसन्नतापूर्वक सौंप दिया है। 'अन्तहु तोहि तजैंगे

पामर तू काहे न तज अब ही ते' के गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा प्रतिपादित वैराग्यपूर्ण उपदेश को मैंने कम से कम एक वस्तु के सम्बन्ध में सवा सोलह आने रूप से अपना लिया है।

मैं उन स्वच्छतावादियों में से नहीं हूँ जो अपने मुख-मंडल पर एक रात की उपज को सहन नहीं कर सकते और चाणक्य की तत्परता से नित्यप्रति उसका मूलोच्छेदन करते हैं। मैं चेहरे की वास्तविक स्याही की अपेक्षा आलङ्कारिक स्याही से बचने की अधिक चेष्टा करता हूँ। अब तो भगवान् ने बालों की कालिमा को भी दूर कर दिया है। भगवान् की बिना परिश्रम की देन को यदि मैं अपने खालसा भाइयों की भाँति सर-माथे रखकर अपनाता नहीं हूँ, तो उसका अत्यन्त तिरस्कार भी नहीं करता। मौत की भाँति मैं नाई की बला को टालता रहता हूँ और यदि स्वीकार भी करता हूँ तो आपत्ति धर्म के रूप में।

मेरे नापित महोदय श्री बेनीरामजी से मेरा बहुत पुराना परिचय है—कम से कम तब का जब कि मैं सेकण्ड ईयर में पढ़ता था। वे भी मेरी तरह से अर्द्ध-प्राचीनतावादी जिजमानी-वृत्ति करने वाले नाइयों में से हैं। नाई शब्द अरबी में भी है। वहाँ वह मौत की खबर लाने वाले का बोधक है। शायद अरब के लोगों को यहाँ के लोगों की अपेक्षा क्षौरकार का कम काम पड़ता है, इसीलिए उसके नाम से ऐसे अशुभ संस्कार लगे हुए हैं। हमारे यहाँ तो वह जन्म की मङ्गल दूब भी लेकर जाता है। मालूम नहीं हमारा नाई शब्द अरबी के नाई की सन्तान है अथवा उसका जन्म संस्कृत 'नापित' से 'प' और 'त' के लोप से हुआ है! हमारे बेनीरामजी जब दूसरे, चौथे, आठवें दिन अतिथि की भाँति दर्शन देते हैं, तब वे प्रातःकाल ही अपने मस्तक पर स्नान-ध्यान कर लेने का चन्दन-कुंकुम का मङ्गलमय प्रमाणपत्र लेकर आते हैं और अपने शुद्ध संस्कृत 'नापित' नाम के व्युत्पत्त्यर्थ को (स्नापितः अर्थात् स्नान कराया हुआ, क्योंकि पूर्वकाल में क्षौरकर्म कराने से पूर्व नाई को नहला लिया जाता था) शब्दशः सार्थक करते हैं। मालूम नहीं पुराने जमाने के लोगों को नाइयों से क्या वैर था, जो यह लोकोक्ति प्रसिद्ध हो गई—'नराणां नापितो धूर्तः पक्षिणां च वायसः।' हमारे नापितदेव तो अपनी सज्जनता से

इस कथन को शशशृङ्गवत् मिथ्या और अप्रामाणिक सिद्ध कर देते हैं।

भूतभावन भगवान् शङ्कर जिस प्रकार स्वयं दिगम्बर, विरूप और कपाली रहकर भी दूसरों को श्री और सम्पदा प्रदान करते हैं, ठीक उसी प्रकार बेनीरामजी अपने बाल बढ़ाये रखकर भी दूसरों के मुख-मंडलों पर पालिश द्वारा उनकी श्रीवृद्धि किया करते हैं। कभी-कभी जब किसी पार्टी आदि में जाना होता है, तो वे भगवान् के वरदान स्वरूप 'करुणा में वीर रस' की भाँति उपस्थित हो जाते हैं और कभी वे मास-पखवारे की गणना को अपने मन से बिलकुल भुला देते हैं।

मेरे नापितदेव न तो वामन ही हैं और न विशालकाये। मेरी बुद्धि की भाँति वे भी मध्य श्रेणी के हैं, और कुछ लघुता की ओर झुके हुए हैं। जैसा उनका मुख, वैसी उनकी छोटी मूँछें और आँखें हैं। उनका छोटे अण्डाकार शीशों वाला, डेढ़ कमानी का चश्मा उनके गाम्भीर्य और वार्द्धक्य को बढ़ाता रहता है। जैसे मैं अपनी पोशाक की व्यवस्था सम्हालने में असफल रहता हूँ, वैसे ही वे अपनी पेटी की व्यवस्था सुधारने में असमर्थ रहते हैं, क्योंकि वह पेटी उनके स्वरूपानुरूप है। पेटी का आवरण-पट, जो बाल कटाने वाले यजमानों का भी बालवर्षा से सुरक्षित रखने में रक्षा-कवच बनता है, साबुन के प्रयोग से उतना ही अछूता रहता है, जितना कि आजकल का विद्यार्थी भगवन्नाम से। उसको स्वच्छ रखने के उपदेश उनके ऊपर उतना ही प्रभाव रखते हैं जितना कि 'कामी वचन सती मन जैसे'; फिर भी मैं उनका स्वागत करता हूँ, क्योंकि वे मुझे स्व-रक्तपात से बचाये रखते हैं। बाल तो (कान नहीं) वे बड़े-बड़े आदमियों के भी काटने का गौरव रखते हैं। बड़े-बड़े आदमी भी रुपया बचाना चाहते हैं। नाई की दूकान पर जाने में उनकी शान घटती है और अच्छे नाई को घर पर बुलाने में जेब कटती है। हाँ, तो बेनीराम जी बाल काटने में अपने को किसी से कम नहीं समझते। किन्तु उस कला में उनकी गति उतनी ही है जितनी कि मेरी बङ्गला बोलने में (बङ्गाल पहुँच जाऊँ तो भूखा-प्यासा नहीं मरूँगा)। उनकी बाल काटने की कला में मुझे इससे अधिक योग्यता की आवश्यकता भी नहीं; क्योंकि भगवान्

ने मुझे निर्धनी रखकर भी खल्वाट बना रक्खा है। किन्तु जब कभी छटे-छमाहे किसी प्रकार वे मुझको बाल काटने को राजी कर लेते हैं, तो आध घण्टे तक पीछा नहीं छोड़ते। मेरे अवकाशाभाव की बात को इतना ही सत्य समझते हैं जितना कि लेखक लोग लौटाये हुए लेख पर 'स्थानाभाव के कारण सधन्यवाद वापस' के हृदयद्रावक सम्पादकीय नोट को।

साधारण शेव में भी बेनीरामजी कलाकार का कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व निभाना चाहते हैं। एक बार के शेव में उनका सन्तोष नहीं होता है। वे सच्चे कर्मयोगी हैं, जब तक मन भर कर अपनी कला का प्रदर्शन न कर लें तब तक वे अपने को कृतकार्य नहीं समझते। पैसे से उनको मतलब अवश्य रहता है, किन्तु यजमान की इच्छा के विरुद्ध भी जब तक काम पूरा न कर लें, तब तक वे अपने को कर्त्तव्यच्युत समझते हैं। भले आदमी की जबान की भाँति मैं शेव भी दो बार नहीं चाहता, किन्तु मेरे नापित महोदय इसको मेरी सबसे बुरी आदत समझते हैं। कभी-कभी मुझे उनकी इस बात से सन्तोष होने लगता है कि यदि मुझ में सबसे बुरी आदत यही है, तो वास्तव में भला आदमी हूँ। जब कभी उनका उस्तरा भौंहों की साज-सम्हाल की ओर अपने आक्रमणकारी पग बढ़ाता है, तब समय के उस दुरुपयोग पर मुझे सात्विक क्रोध आ जाता है और भगवान् से 'त्राहि माम्! त्राहि माम्!' की पुकार कर मैं प्रार्थना करने लगता हूँ कि 'हे ईश्वर, मुझे ऐसे कर्त्तव्यपरायण कलाकारों से परित्राण दे!' वे इस क्रोध को सच्चे तपस्वी की भाँति क्षमा कर देते हैं। 'क्षमारूपं तपस्विनाम्।'

अपनी जाति के अन्य व्यक्तियों की भाँति वे भी चलते-फिरते समाचार-पत्र हैं और चूँकि मैं कोई स्थानीय पत्र नहीं खरीदता, मैं उनकी इस वृत्ति का स्वागत करता हूँ। विशेषकर साम्प्रदायिक झगड़ों के दिनों में उनकी यह सेवाएँ बहुमूल्य थीं।

मैं चाहता हूँ कि उनमें कुछ सुधार हो, किन्तु वे चर्चिल की भाँति अपरिवर्तनवादी हैं। 'कारी कामर चढ़े न दूजो रंग'। मैं भी उनको अपने दोषों की भाँति 'अंगीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति' के न्याय से अपनाये हुए हूँ। मुझसे जिजमान तो उनके लिए बहुत

से हैं, किन्तु मुझे इतना सुलभ नाई कठिनता से मिलेगा। वे मुझे राजामंडी तक के यातायात के कष्ट और नाई के सेलून की प्रतीक्षा की झंझट से बचाये रखते हैं। इसीलिए उनमें सफाई की अव्य-वस्था होते हुए भी कविकुल-गुरु कालिदास की 'एकोहि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः' वाली बड़े-बड़ों की कलङ्कमोचनी उक्ति के आधार में उस अवगुण की उपेक्षा कर देता हूँ और निस्संकोच मैं उनसे कह देता हूँ कि 'हमसे तुमको बहुत हैं, तुमसे हमको नाहिं।'

नोट—मुझे अत्यन्त खेद है कि वे अब स्वर्गवासी हो गये। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे।

[*'मनोरंजन'* (दिसम्बर, ४८)]

व्यापार सम्बन्धी

व्यापारे वसति लक्ष्मी

लक्ष्मीजी का निवास स्थान व्यापार में है। जिस प्रकार लक्ष्मी व्यक्ति और देश की श्री-समृद्धि की अधिष्ठातृ देवी हैं उसी प्रकार व्यापार देश की सभ्यता का मापदण्ड ही नहीं, जीवन-रस भी है।

संस्कृत में व्यापार शब्द का व्यापक अर्थ क्रिया है। संस्कृत, हिन्दी और बङ्गला में (कुछ अधिक मात्रा में जैसे 'ए व्यापारटा की') अब भी व्यापक अर्थ में इसका प्रयोग होता है किन्तु अपने संकुचित अर्थ में यह अँग्रेजी Business शब्द का प्रयोग बन गया है। इस संकुचित अर्थ में व्यापार उन क्रियाओं को कहते हैं जो आर्थिक लाभ की दृष्टि से की जायँ। इस प्रकार उद्योग-धन्धे भी व्यापार के ही अङ्ग हैं क्योंकि व्यापार इनके बिना पंगु रह जाता है। यद्यपि बहुत संकुचित अर्थ में व्यापार क्रय-विक्रय में ही सीमित रहता है तथापि जिस प्रकार बिना बाँस के बाँसरी का अस्तित्व नहीं, उसी प्रकार उद्योग-धन्धों के बिना व्यापार निराधार रह जाता है।

लक्ष्मीजी व्यापारी वर्ग की उपास्या देवी हैं। जिस प्रकार गृहस्थाश्रम पर सारे आश्रम निर्भर रहते हैं, वैसे ही देश के सारे कार्य लक्ष्मीजी के अधिष्ठान व्यापार में आश्रित रहते हैं। 'सर्वे समारम्भा तण्डुलप्रष्ठ मूलाः।' जीवन के आर्थिक मूल्य यद्यपि अन्तिम मूल्य नहीं हैं तथापि सभ्यता के विकास में आध्यात्मिक प्रेरक शक्तियों के साथ-साथ आर्थिक शक्तियों की प्रेरणा भी रही है।

मार्क्सवाद सभ्यता की प्रेरक शक्तियों को आर्थिक प्रेरणा में सीमित कर देता है, यही उसकी एकाङ्गिता है। हम भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही आवश्यकताओं में से किसी एक की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। हमको लक्ष्मी और सरस्वती दोनों की पूजा करनी होगी।

इस पृष्ठभूमि के साथ विषय को सीमित रखने के लिए हम सभ्यता के विकास में व्यापार के योग का अध्ययन करेंगे। व्यापार समाज की अपेक्षा रखता है। अकेला मनुष्य व्यापार नहीं कर सकता है।

अकेला मनुष्य तो कल्पित रॉबिन्सन क्रूसो की भाँति ही स्वतः पूर्ण हो सकता है। वह अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। सामाजिकता के साथ ही व्यापार की भावना लगी रहती है। व्यापार के मूल में, चाहे वह प्रारम्भिक काल में वस्तु-विनिमय में ही सीमित रहा हो, विशेषीकरण और पारस्परिक सहयोग की भावनाएँ, जो सभ्यता की आधारशिलाएँ हैं, निहित रहती हैं।

विकसित संस्था उसी को कहते हैं जिसमें अधिक से अधिक विशेषीकरण के साथ अधिक से अधिक एकीकरण हो। हम केंचुए को कम विकसित और मनुष्य को अधिक से अधिक विकसित इसीलिए कहते हैं कि केंचुए की इन्द्रियों का विशेषीकरण कम हुआ है और मनुष्य की सब इन्द्रियों का पूर्ण विशेषीकरण हो गया है और साथ ही उनमें पारस्परिक सहयोग और सहकारिता अधिक से अधिक बढ़ी हुई है। समाज भी व्यक्ति का वृहत् संस्करण है। जैसे-जैसे समाज में सभ्यता का विकास होता गया, उद्योग-धन्धों का विशेषीकरण होता गया। कुम्हार घड़े बनायगा तो जुलाहा कपड़ा, और किसान खेती करेगा तो गाय पालने वाला दूध-घी तैयार करेगा और लुहार छुरी, चाकू, तलवार और हल का फाल बनायगा। प्रारम्भिक अवस्था में तो प्रत्येक मनुष्य अपनी सब आवश्यकताओं की पूर्ति करता रहता था। उसकी आवश्यकताएँ भी कम थीं और उनकी पूर्ति सम्भव भी हो जाती थी। सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य की आवश्यकताएँ भी बढ़ीं और आवश्यकताओं के बढ़ने के साथ वस्तुओं का वैविध्य और उनके निर्माण में कौशल और सफाई की माँग हुई और विशिष्ट रूप से उत्पादित वस्तुओं की खपत के लिए वस्तु-विनिमय की आवश्यकता प्रतीत हुई। परन्तु विनिमय में कठिनाइयाँ होने लगीं। हर मनुष्य को हर समय हर वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। घड़े वाले को कपड़े की आवश्यकता है किन्तु कपड़े वाले को घड़े की नहीं। ऐसी कठिनाइयों को दूर करने के लिए अन्न के माध्यम से व्यापार होने लगा क्योंकि उदर-पूर्ति सभी की प्रारम्भिक आवश्यकता है। गाँवों में आज भी अन्न-विनिमय माध्यम है।

अन्न को भी हर जगह लादकर नहीं ले जाया जा सकता, इसलिये धातु मुद्राओं का आविर्भाव हुआ। धातु मुद्राओं के आगमन से व्यापार की गति बढ़ी। वह केवल एक गाँव में ही सीमित न रहा, बल्कि देश की सीमाओं को भी पार कर गया। विदेशों से हमारा सम्पर्क बढ़ा, विचारों का भी आदान-प्रदान हुआ। सभ्यता के विकास को एक नयी प्रेरणा मिली। व्यापार द्वारा व्यक्तियों और प्रान्तों में ही सहयोग नहीं बढ़ा वरन् अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी बढ़े क्योंकि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक देश में उत्पन्न नहीं होती। व्यापार से ही पारस्परिक निर्माण की भावना बढ़ी किन्तु मनुष्य और राष्ट्रों के संकुचित विचारों के कारण व्यापार आक्रमणों का भी कारण बना। आक्रमणों द्वारा प्रभुत्व स्थापित कर दूसरे देशों की उपज को अपने लिए सुरक्षित कर लेने की बात लोगों ने सोची। यह तो व्यापार का दुरुपयोग हुआ। व्यापार के सदुपयोग में पारस्परिक सहयोग की भावना बढ़नी चाहिये। हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में इतना मतभेद और वैमनस्य होते हुए भी जो पारस्परिक सहयोग चल रहा है, वह व्यापार के ही कारण। दोनों देश एक ही थे और इसके कारण एक दूसरे के पूरक हैं।

पारस्परिक सहयोग और लड़ाई से बचने की वृत्ति सभ्यता का प्रथम लक्षण है। व्यापार इस सहयोग के बढ़ाने में जितना योग देता है उतना और कोई नहीं। युद्ध को रोकने में सबसे बड़ा नहीं तो एक बड़ा कारण व्यापार में हानि पहुँचने की संभावना का अस्तित्व है। यदि हम किसी देश पर किसी वस्तु के लिये निर्भर रहते हैं तो उस देश से सहज में लड़ाई मोल न लेंगे।

व्यापार ने यातायात के साधनों को सुलझवाने में योग दिया है। यद्यपि यातायात के साधनों में उन्नति युद्धों के कारण भी हुई है तथापि युद्ध स्थायी संस्था नहीं है। व्यापार से रेलों, जहाजों आदि को प्रोत्साहन मिलता है और इनसे व्यापार को। व्यापार के आधार पर हमारे डाक-तार विभाग भी फले-फूले हैं। व्यापार ही देश की सभ्यता का मापदण्ड है। दूसरे देशों से जो हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, वह व्यापार के बल-भरोसे होती है। व्यापार में आयात और निर्यात दोनों ही

सम्मिलित हैं। आयात-निर्यात के सन्तुलन में ही अथवा अपने पक्ष में कुछ विशेष धन बाकी रखने में ही देश की आर्थिक दृढ़ता की सम्भावना रहती है। निर्यातों के अभाव में हमको अन्न भी मिलना कठिन हो जायगा। किन्तु हमको अपनी मौलिक आवश्यकताओं के लिये दूसरे देशों पर जितनी निर्भरता कम हो, उतना ही अच्छा है। व्यापार के साथ उत्पादन की भी वृद्धि आवश्यक है। हम अब भी स्वदेशी का व्रत भूले हुए हैं। विदेशी राज्य न होते हुए भी हमारे बाजारों पर विदेशों का अधिकार है क्योंकि हमने अपनी आवश्यकताओं को अपने देश की उपज से पूरा करना नहीं सीखा है।

व्यापार ने हमारे सुख-साधनों को बढ़ाकर हमारे जीवन का स्तर ऊँचा किया है। हमारे विशाल भवन, गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ, स्वच्छ दुग्धफेनोज्ज्वल कटे-छटे वस्त्र, विद्युत् प्रकाश, रेडियो, तार, टेलीफोन, रेल और मोटरें सब हमारे व्यापार पर ही आश्रित हैं। व्यापार में दूसरे देशों पर हमारी निर्भरता अभी बढ़ी हुई है। जब तक यह निर्भरता रहेगी तब तक हम सच्चे अर्थ में स्वतन्त्र नहीं हो सकते हैं। हमें अपनी आवश्यकताओं को कम करके जीवन का स्तर नीचा गिराने की आवश्यकता नहीं है, वरन् हमको अपने देश का उत्पादन बढ़ाकर अन्य देशों की भाँति आत्म-निर्भरता प्राप्त कर लेना वाञ्छनीय है। विलास की वस्तुओं के लिए धन बाहर भेजना लक्ष्मीजी का अपमान है। हम सभ्य तभी कहे जा सकते हैं, जब हम अपनी सभ्यता के प्रसाधनों के लिये दूसरे देशों पर निर्भर न रहें।

हमारी लक्ष्मी-पूजा तभी सफल होगी, जब हम व्यापार रूपी लक्ष्मी-सदन को खूब सम्पन्न बनावें।

स्वदेशी व्यापार को सम्पन्न बनाने के लिये उत्पादक और उपभोक्ता दोनों का पारस्परिक सहयोग वाञ्छनीय है। उत्पादक और व्यापारी उपभोक्ता की प्रवञ्चना न करें और उपभोक्ता देश में निर्मित वस्तुओं का आदर करें। उनको गर्व के साथ देखें और उत्पादक उनको गर्व करने के योग्य बनावें। तभी हमारा व्यापार भी समृद्ध होगा और हमारे देश की शोभा-श्री बढ़ेगी।

हम अपने व्यापार को अपने ही देश में सीमित न रखें, वरन् अपने माल की श्रेष्ठता के कारण दूसरे देशों से भी उनका व्यापार बढ़ावें। लक्ष्मीजी की प्राप्ति समुद्र-मंथन से ही हुई थी। हमारे युवक ऐसी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने की कोशिश करें जिससे कि वे देश के व्यापार को समृद्ध बना सकें। तभी हमें स्वराज्य का सच्चा सुख प्राप्त हो सकेगा। हमारे व्यापारी ईमानदारी का स्तर ऊँचा उठावें। तभी वे देश को समृद्ध बना सकेंगे और विदेशों से व्यापार में सफलता प्राप्त कर सकेंगे।

हमारा व्यापार हमारी नैतिकता की कसौटी बने, इसी दशा में हमारा व्यापार भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की सभ्यताओं का उन्नायक होगा।

['सैनिक' (दीपावली विशेषांक, १६५२)]

कुशल व्यापारी के गुण

व्यापारी की शिक्षा दो तरह से हो सकती है। एक आचरण सम्बन्धी जिसे वह जन्म से ही पा लेता है। दूसरी व्यावहारिक शिक्षा जिसे वह पुस्तकों से, स्कूल या कॉलेज में पा सकता है। आचरण मनुष्य को दिया हुआ प्रकृति का वरदान है जिसे वह बहुधा नमक मिर्च मिलाकर अधिक बढ़ा नहीं सकता किन्तु व्यावहारिक ज्ञान को वह परिश्रम करके बढ़ा सकता है। पहिले प्रकार की शिक्षा को हम मनुष्य के स्वाभाविक गुण कह सकते हैं और दूसरी तरह की शिक्षा को उसकी व्यावहारिक कुशलता।

व्यापारी को अच्छा आचरण रखना बहुत आवश्यक है। उसे सत्य से प्रेम करना चाहिये। अकेला यही गुण उसे अनेक सांसारिक झंझटों से बचाने में सफल हो सकेगा और उसे एक चतुर व्यापारी बना सकेगा क्योंकि जो आदमी सच्चा होता है वह अपने कामकाज और व्यवहार में सादगी से काम लेता है। फल यह होता है कि उससे गलती कम होती है और नुकसान उठाने के अवसर बहुत कम आते हैं। जो लोग सत्य से प्रेम करते हैं उनको अपने रोजाना के कामकाज और व्यवहार में उचित अनुचित और अच्छे बुरे का ध्यान जरूर बना रहता है। ये विचार उनको ठीक रास्ते पर चलने और गलत रास्ते से बचाने में सहायक होते हैं। बुरे रास्ते पर पैर रखते ही उनकी आत्मा उन्हें धिक्कारती है और उस काम को करने से रोकती है। ठीक रास्ते पर चलते समय उनकी वही आत्मा उन्हें प्रोत्साहन देती है।

कुशल व्यापारी को उदार और नम्र होना भी जरूरी है। इससे उसका मन पवित्र रहता और समझ पैनी होती है। जैसे ज्ञान से शक्ति बढ़ती है वैसे ही उदारता से ज्ञान बढ़ता है। जिनका हृदय उदार नहीं और जो नम्र नहीं उनका ज्ञान एकांगी और अधूरा होता है। पूरा ज्ञान पाने के लिये दोनों पक्ष की बात को तोलना जरूरी होता है और जो उदार एवं नम्र तथा सहनशील

नहीं होता वह ऐसा कर ही नहीं सकता है। हमें जितना अधिकार अपनी बात कहने का है उतना ही अधिकार दूसरे को भी अपनी बात कहने का है। यदि हम खुलकर बोलते हैं तो दूसरे को भी बोलने का पूरा अवसर देना चाहिये। एक उदार आदमी जिस काम को करेगा उसे सेवा भाव से करेगा, मुनाफे के विचार से नहीं, क्योंकि वह यह जानता है कि समाज की सेवा करने के विचार से जो सामान बिक्री के लिये तैयार किया जायगा वह बहुत ही टिकाऊ और अच्छा बनाया जायगा जिसकी कि माँग बढ़ती ही चली जायगी। अतः उसे मुनाफा तो जरूर होगा ही। ज्यों ज्यों उसका सामान लोगों के पास पहुँचेगा त्यों त्यों उसके सामान का प्रचार होगा, माँग बढ़ेगी और उसका मुनाफा बढ़ेगा। उसे नुकसान का दिन कभी नहीं देखना पड़ेगा। नम्रता में मनुष्य को वश में करने की बड़ी ताकत है। नम्र व्यापारी ग्राहक का हृदय जीतकर उसे सदैव के लिये अपना बना लेता है। मीठा बोलने में हमारा कुछ खर्च नहीं होता किन्तु पा हम सब कुछ लेते हैं। उससे लाभ ही होता है, हानि नहीं।

हर एक व्यापारी को अपने सिद्धान्त बना लेने चाहिये और उन्हीं पर सदैव चलना चाहिये। सम्भव है शुरू में उसे कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़े और वह अपने बनाये हुए सिद्धान्तों का ठीक-ठीक पालन न कर सके, किन्तु इससे उसे डरना न चाहिये और अपने मार्ग से विचलित न होना चाहिये क्योंकि यदि वह एक सत्य की ही रट लगाये हुए है तो यही अकेला गुण उसे सफलतापूर्वक सारी कठिनाइयों से पार उतार ले जायगा। गलत रास्ते पर चलते ही ठोकर लगेगी और वह सही रास्ते पर आ जायगा। जो मनुष्य किसी नियम के अनुसार नहीं चलता उसका जीवन बेपतवार की नाव की भाँति भँवर में पड़कर शीघ्र समाप्त हो जाता है।

व्यापारी को आशावादी और शान्त स्वभाव का होना चाहिये। उसे न निराश होने की आवश्यकता है और न क्रोध करने की। यदि आज थोड़ा नुकसान हुआ है तो कल फायदा भी जरूर होगा, यह सोचकर उसे घबराना न चाहिये। सेवा की पतवार के सहारे अपने व्यापार अथवा व्यवसाय की नाव

को उत्साह सहित भँवर से निकाल ले जाने में बुद्धिमानी है। हारकर हाथ-पैर छोड़ देने से यश नहीं मिलता। किसी ने ठीक कहा है—

शान्ति से काम लो छोड़ो न निज मर्याद को।
सर्द लोहा काट देता है गरम फौलाद को॥

स्वतंत्र विचार रखना भी व्यापारी का एक उत्तम गुण है। अनेक अवसरों पर उसे तुरन्त निश्चय करके काम करना पड़ता है, किसी से सलाह मशवरा लेने का मौका नहीं मिलता। देरी करने में काम बिगड़ता है और मौका हाथ से निकल जाने का डर रहता है। अतः एक व्यापारी को हाजिर जवाब होना चाहिये; उसका दिमाग तेज और साफ होना आवश्यक है। घंटों तक सन्देह में पड़े रहने से काम नहीं चलता। अच्छे सौदे से ऐसे ही लोग फायदा उठा सकते हैं जो 'तुरन्त दान महा कल्यान' स्वभाव वाले होते हैं। ऐसा स्वभाव बहुधा उन लोगों का हो जाता है जिन्हें बचपन में ही जिम्मेवारी उठानी पड़ जाती है अथवा जो स्वतंत्र वातावरण में पलते हैं।

हिम्मत से बहुत से काम निकल जाते हैं और शरीर अथवा दिमाग की कमजोरी छिप जाती है। चाहे कितना ही कठिन काम करना पड़ जाय, चाहे कितनी ही आपत्तियों का सामना हो या भारी नुकसान उठाना पड़ गया हो, तो भी एक चतुर व्यापारी को साहस न छोड़ना चाहिये। उसका हृदय वज्र का और हड्डियाँ लोहे की होनी चाहिये। आगे बढ़ना ही उसका काम है। पीछे पैर रखना कायरता है।

अब हम व्यापारी की उस शिक्षा की ओर ध्यान देंगे जिसे कि किताबें पढ़ने से या अनुभव से बढ़ाया जा सकता है। संसार का साधारण ज्ञान जितना ही अधिक हमें होगा उतना ही अच्छा है। वह हमें चतुराई देगा और देगा तरह तरह की परिस्थितियों से बचने की शक्ति। किसी काम या उसके कारण पर गम्भीरता से विचार करने की क्षमता रेखागणित पढ़ने से शीघ्र प्राप्त हो सकती है। इससे आँख और हाथ सध जाते हैं, दृष्टि पैनी और बुद्धि तेज हो जाती है। यदि हम रेखागणित जानते हैं तो उन्नति के रास्ते पर इसी प्रकार बढ़ते

चले जायँगे जैसे बिन्दु से रेखा का जन्म होता है, रेखा से धरातल का और धरातल से संसार की सारी लम्बी से लम्बी, चौड़ी से चौड़ी और ऊँची से ऊँची ठोस चीजों का।

उदार विचार रखने के लिये हमें मनोविज्ञान और धर्मशास्त्रों को पढ़ना चाहिये। इससे हम मनुष्य को भली भाँति समझ सकेंगे, उसके स्वभाव को पहिचानने की हममें क्षमता बढ़ेगी और अनेक चालाक और धोखेबाज लोगों के चंगुल से हम बच जायँगे। हमारी विचार-शक्ति बढ़ेगी और हम किसी भी बात का तुरन्त निश्चय करना सीख जायँगे। स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ तथा महात्मा गाँधी जैसे विद्वानों की लिखी हुई पुस्तकें हमें बड़ी सहायक होंगी। इस प्रकार के व्यापक ज्ञान के अतिरिक्त हमको देश-विदेश की राजनीति की जानकारी होना और उसमें दिलचस्पी रखना भी अत्यन्त वाञ्छनीय है क्योंकि राजनीति का देश के व्यापार पर गहरा असर पड़ता है, उससे सरकार की आयात-निर्यात नीति का भी पता चलता रहता है और करों की घटती-बढ़ती के कारण भावों के उतार-चढ़ाव की भी कुछ पेशगी जानकारी प्राप्त हो जाती है। जिन वस्तुओं का हमारा व्यापार है उनके उत्पादन के सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त करना हमारा परम कर्तव्य है। यह जानकारी कुछ तो विविध यात्राओं द्वारा प्राप्त हो सकती है और कुछ पुस्तकों के अध्ययन से।

जहाँ तक पढ़ने का संबंध है, हमें यह याद रखना चाहिये कि अधिक पढ़ने से बहुधा लाभ नहीं होता। लाभ होता है अच्छे ढंग से पढ़ने से। अतः हमें विधिपूर्वक अच्छे ढंग से पढ़ना चाहिये। जो हम पढ़ें उसको पूरी तरह अपना लेने पर हम काम पड़ने पर उपयोग में ला सकते हैं और दूसरों को भी समझा सकते हैं। व्यापार के विद्यार्थी को विद्वान् नहीं होना है, उसे अपने काम में चतुर होना है; उसे पूर्ण मनुष्य नहीं बनना बल्कि उसे तुरन्त काम करने और मौके से लाभ उठाने वाला बनना है। जो वह जानता है उसे विधिपूर्वक सजाकर दूसरों के सामने रखने की उसमें योग्यता होनी चाहिये। इस योग्यता के पाने के लिये उसे अपने वक्तव्य को संक्षेप करके लिखने, उसे अच्छे ढंग से सजाने, सँभालने और

छाँटने तथा विरोधी बातों को सुलझाने का अभ्यास करना चाहिये। उसकी लेखनी चलती और प्रभाव डालने वाली होनी आवश्यक है। शब्दों को दुहराने से भाषा में कोई दोष नहीं आता अतः सदैव प्रचलित शब्दों का प्रयोग करना ही ठीक है। उसे साहित्यिक भाषा नहीं लिखना बल्कि अपनी बात ज्यादा से ज्यादा जनता को समझानी है। अतः भाषा बोलचाल की, मुहावरेदार, चलती भाषा हो। अपनी बात थोड़े से थोड़े शब्दों में ही कहनी चाहिए क्योंकि लम्बी बातें सुनने या पढ़ने के लिये आजकल जनता के पास समय कम रहता है। विरोधियों के तर्क सुनने के लिए सदैव तैयार रहना चाहिये और उनका उचित उत्तर देना चाहिये। विरोधी लोगों की आलोचना से हमें लाभ उठाना सीखना चाहिये न कि उनसे घृणा करना अथवा उन्हें गाली देना। व्यापारी को व्यापारी होने के अतिरिक्त सद् नागरिक होना आवश्यक है क्योंकि कर्तव्यनिष्ठ मनुष्य की प्रतिष्ठा व्यापार में भी बढ़ जाती है। उसको अपने निजी लाभ के अतिरिक्त देश की समृद्धि और सम्पन्नता का भी ध्यान रखना चाहिये। 'आत्महिताय' के साथ उसे 'देशहिताय' न भूलना चाहिये।

[*'व्यापार कानून'* (१६४७)]

ग्राहक पटाने की कला

महत्व—ग्राहक व्यापारी का अन्नदाता और परमेश्वर है। उसके बिना दूकानदार की अयोध्या सूनी रहती है। प्राचीनकाल का दूकानदार अपने भगवान् से छप्पन करोड़ की चौथाई की भिक्षा के साथ आँख के अन्धे गाँठ के पूरे ग्राहक की भी माँग करता था क्योंकि उसके बिना उत्पादक का उत्पादन और संग्रह करने वाले का संग्रह निष्फल और व्यर्थ रहता है। रेल की वैगनों के दौड़ते रहने में ग्राहक की ही संचालन शक्ति काम करती है। उसके अभाव में बनिये का बनिज बँधे हुए पानी की भाँति सड़ने लगता है। वही व्यापार की सुरसरिता को गति-वेग देता है। जिस प्रकार बिना दर्शकों के नाटक फीका रहता है और जिस प्रकार बिना श्रोताओं के व्याख्यान-वाचरपति की भी कला नीरस हो जाती है, उसी प्रकार बिना ग्राहक के दुकान बीहड़ बन से भी भयंकर रूप धारण कर लेती है। ग्राहक आता भाग्य से है किन्तु वह यदि निष्फल चला जाता है तो दूकानदार की मूर्खता और व्यावहारिक अकौशल से। ग्राहक गरजमंद अवश्य होता है किन्तु आजकल होड़ और प्रतिद्वन्द्विता के समय में उसकी गरज और जगह भी पूरी हो सकती है। वह माल की ही चाह नहीं रखता वरन् सद्व्यवहार भी चाहता है। जहाँ भिखारी भी मान चाहता है—'अमी पियावत मान बिनु रहिमन हमें न सुहाय'—फिर वह तो पैसा खर्च करता है। वह क्यों न मान चाहे ?

यद्यपि जिस प्रकार मछली का बच्चा जन्म से ही तैरना सीख जाता है, उसी प्रकार दूकानदार का बेटा भी दूकान पर बैठते ही ग्राहक पटाना सीख जाता है, फिर भी बहुत कुछ बच रहता है, जिसे वह धीरे-धीरे अनुभव से सीख लेता है। उसी का यहाँ पर कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

सफाई-सजावट—कुछ ग्राहक अवश्य इस मनोवृत्ति के होते हैं कि 'परो अपावन ठौर पै कंचन तजै न कोइ' किन्तु अधिकांश लोगों के लिये दूकान की सफाई और सजावट अपना विशेष

महत्व रखती है। यद्यपि 'ऊँची दूकान और फीका पकवान' का कटु अनुभव बहुत से लोगों को होता है तथापि दिनकर-प्रकाश से प्रतिस्पर्द्धा करने वाले विद्युत् आलोक में व्यवस्था के साथ सजी-सजाई चमकती-दमकती स्वच्छता की आभा विकीर्ण करती हुई वस्तुएँ मन और पैरों को बरबस अपनी ओर खींच लेती हैं। हृदय मंदिर के द्वार खोलने के लिये बाह्य सौन्दर्य प्रथम उपकरण है। 'यत्र आकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति'—जहाँ सुन्दर आकृति होती है वहाँ गुण भी होते हैं। यद्यपि यह बात सर्वथा सत्य नहीं है तथापि बाह्य स्वच्छता अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहती है किन्तु सफाई और सजावट को लिफाफियापन का पर्याय न बना देना चाहिए। दूकान की भव्यता के अनुकूल सामान की सुसम्पन्नता भी वाञ्छनीय है। आजकल विशेषीकरण के जमाने में सर्वतोमुखी सम्पन्नता तो कठिन है किन्तु अपने विशेष क्षेत्र की यथासम्भव पूर्णता वाञ्छनीय है। आवश्यकताओं का अध्ययन, नये-नये फैशन और वस्तुओं के प्रचलन की जानकारी, और लोगों की रुचि की पहिचान, एक सफल दूकानदार की मानसिक सुसज्जा के आवश्यक उपकरण हैं। दूकान में वस्तु-विन्यास की ऐसी व्यवस्था रहे कि नये ढङ्ग की वस्तुएँ रास्ता चलते ग्राहक का भी ध्यान आकर्षित करलें। इसके लिये छोटे-छोटे साइनबोर्ड भी बड़े सहायक होते हैं। अमुक वस्तु यहाँ मिलती है की सूचना को पढ़कर खोजी ग्राहक को उतनी ही प्रसन्नता होती है, जितनी वैज्ञानिक अन्वेषक को अपने खोज की वस्तु मिल जाने पर होती है।

स्वागत-सत्कार—इस सम्बन्ध में पानी-पत्ता, पान-तम्बाकू तो अपना महत्व रखते ही हैं किन्तु उनसे अधिक दूकानदार के भव्य और आकर्षक व्यक्तित्व और दूकान की सफाई और उठने-बैठने की सुविधा का भी अपना विशेष स्थान है। पान-तम्बाकू वहीं स्वीकार किया जाता है जहाँ मनुष्य की बैठने को तबियत चाहे। बैठने के लिये अच्छा स्थान, पंखे की हवा और शीतल जल और दूकानदार का प्रसन्न मुख, व्यवहार में अपनपत्व और मीठी वाणी बाजार के भ्रमण से थके-थकाये ग्राहक की टाँगों को विश्राम, चित्त को शान्ति और कुछ काल तक बैठे रहने की

निश्चिन्तता प्रदान करती है। गाँठ का पूरा ग्राहक (माल अच्छा है तो आँख के अन्धे ग्राहक की जरूरत नहीं) जितनी देर बैठता है उतनी देर कुछ न कुछ प्राप्ति की सम्भावना रहती है। उसकी आवश्यकता पूरी होने के पश्चात् न जाने कौन सी बात उसकी निगाह चढ़ जाय? पान-तम्बाकू का एक लाभ यह भी होता है कि उसके लिये भी कुछ काल तक ग्राहक जम जाता है और उसे दूकान में रक्खी हुई वस्तुओं पर निगाह दौड़ाने का अवसर मिल जाता है।

सद्व्यवहार—ग्राहक की सबसे पहली माँग यह होती है कि उसकी माँग पर यथोचित ध्यान दिया जाय; विशेषकर जब वह अपने इष्ट मित्रों या स्त्री-बच्चों के साथ हो, वह उपेक्षित न समझा जाय। आजकल काँग्रेस राज्य में गवर्नमेण्ट की दी हुई रायसाहबी को लोग चाहे ठुकरा दें किन्तु दूकानदार की दी हुई रायसाहबी से निष्पृह मनुष्य की भी बाँछें खिल जाती हैं। ग्राहक विशेषकर कपड़ा, जेवर, सौदागरी के सामान का हो, चाहे क्रीम, पाउडर या खेल-खिलौने का, किन्तु वह यह नहीं चाहता कि वह टुटपुँजिया समझा जाय। देवताओं की भाँति सभी ग्राहक बड़े होते हैं—नाउओं की बरात में सब ठाकुर ही ठाकुर होते हैं। माल दिखलाने में किसी प्रकार की आनाकानी या लापरवाही से ग्राहक ऐसे ही बिचक जाता है जैसे काले छाते से बैल। ग्राहक की आवश्यकता को ध्यानपूर्वक समझ लेना चाहिये। भला ग्राहक दूकानदार को बिना प्रयोजन तंग नहीं करता। उसके मन में एक अटक होती है। शायद वह अपने घर को सजाना चाहता है। उसने अपने किसी मित्र को खास प्रकार का कपड़ा पहने देखा है। वह अपनी स्त्री को किसी विशेष रंग का या डिजाइन का कपड़ा पहनाना चाहता है। उससे किसी विशेष वस्तु की फर्माइश हुई है और वह गलत चीज लेजाकर अपनी स्त्री की निगाह में बेवकूफ नहीं बनना चाहता है। इसीलिये वह सौदे की पसंद में उलट-फेर करता है। ठीक वस्तु मिल जाने से उसके हृदय की कली ऐसे ही खिल जाती है जैसे आत्म-ज्ञान से किसी वेदान्ती की। दूकानदार को वस्तुओं और मनुष्यों का इतना अनुभव होना चाहिये कि वह ग्राहक के मन की बात भाँप ले।

यदि ग्राहक का झुकाव देखे तो नम्रतापूर्वक सुझाव भी दे दे। ग्राहक पर अपनी राय का बोझ लादने का उसको अधिकार नहीं। नये फैशन, डिजाइनों और नाप-तौल का इतना ज्ञान आवश्यक है कि वह ग्राहक को अपने ज्ञान के भार से आक्रान्त न करते हुए भी उस पर अपनी विशेषज्ञता की धाक जमाकर उसकी रुचि और आवश्यकता के अनुकूल कम से कम दामों में अच्छे से अच्छा बाना बनवा दे।

ग्राहक की प्रशंसा—ग्राहक पटाने में असावधानी, जल्दबाजी या मिजाज का तुनकपन घातक हो जाता है। कभी-कभी यह आवश्यक हो जाता है कि दूकानदार ऐसा दिखावे कि वह ग्राहक से अपने विषय की जानकारी प्राप्त कर रहा है। फिर ग्राहक खुलने लगता है। अगर उसकी पसन्द और निगाह अर्थात् माल की पहचान की थोड़ी-बहुत तारीफ कर दी जाय तो ग्राहक मूक से वाचाल और कंजूस से शाहखर्च बन जाता है। प्रशंसा की ठण्डी आग वज्र को भी पिघला देती है। जहाँ ऐसा कुछ कहा नहीं कि—'ग्राहक तो ईश्वर की दया से मेरी दुकान पर सैकड़ों आते ही रहते हैं किन्तु जैसी परख और सुरुचि आपकी है वैसी सुरुचि मैंने दो ही चार आदमियों में देखी'—वहीं ग्राहक का मन-मुकुल खिल उठता है और वह कुछ अच्छी चीज खरीद कर ही अपनी सुरुचि को प्रमाणित करता है।

वस्तु-प्रदर्शन-कौशल—दूकानदार को अपनी दूकान के सामान का पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिये, कौनसी वस्तु अलमारी के किस कोने में कौनसे रंग के बेठन में बँधी हुई थी। कभी-कभी वस्तु का महत्व और ग्राहक के गौरव को बढ़ाने के लिये यह भी कहना पड़ता है कि अमुक वस्तु फलाने अफसर या नेता के यहाँ गई थी और उसने सीधी काश्मीर या लुधियाना या बम्बई से मँगवाई थी। कभी-कभी बड़े ग्राहक को प्रसन्न करने के अर्थ यह भी आवश्यक हो जाता है कि वह स्वयं उठकर दूकान के किसी भीतरे कोने में रखे हुए सन्दूक को कुछ कठिनाई से खोलने का अभिनय कर वस्तु को बाहर लाकर कहे कि यह मैंने रखी तो अमुक व्यक्ति के लिये थी किन्तु आपकी खोज पूरी करने के लिये आपको ही दे दूँगा, उनको और मँगा दूँगा। दूकानदार को

अपनी वस्तु के दिखाने में इतनी ही प्रसन्नता और गर्व की भावना होनी चाहिये जितनी कि पिता को अपनी सुयोग्य सन्तान के परिचय कराने में होती है। कुशल दूकानदार अपने ग्राहक पर यह प्रभाव नहीं पड़ने देता कि उसकी दूकान में किसी चीज की कमी है। इसके विपरीत वह ग्राहक पर ऐसा प्रभाव डालेगा कि उसके यहाँ एक से एक बढ़िया रत्न हैं; पैसा चाहिये।

वार्तालाप—दूकानदार का कौशल उसके वार्तालाप से प्रमाणित होता है। न तो वह इतनी चिकनी-चुपड़ी बातें करे कि "मीठा ठग" समझा जाय और न इतनी लापरवाही से बात करे कि ग्राहक के मन पर उद्धत, अशिष्ट और मूर्ख होने की छाप डाल दे। वार्तालाप में थोड़े निजीपन की आवश्यकता रहती है। परिचित ग्राहकों से बालबच्चों की कुशल-क्षेम, उनके पढ़ने-लिखने का हाल अथवा वह किसी विशेष अधिवेशन में जा रहा है या गर्मियाँ बिताने कौनसे पहाड़ पर जायगा, ऐसी कुछ बे-मतलब की बातें भी उसके आत्म-भाव को बढ़ाकर हृदय में स्थान कर लेती हैं। इसके कारण वह अधिक भाव-ताव करने में भी संकोच करता है। किन्तु साथ ही साथ इस बात के लिये भी पूरी तौर से सतर्क होने की आवश्यकता है कि ग्राहक यह न समझे कि दूकानदार बेईमान है या जान-पहिचान में दबाना चाहता है या मीठी बातें करके ग्राहक के तर्क और भाव-ताव के अस्त्र-शस्त्र छीन लेने का इच्छुक है। जहाँ तक हो भाव-ताव की गुंजाइश न रखी जाय। इसका ग्राहक पर बड़ा असर पड़ता है। भाव-ताव हो तो बड़े सौदे का। छोटी चीजों में तो न्यूनातिन्यून एक दाम का ही सिद्धान्त चरितार्थ होना चाहिए।

ईमानदारी—दूकान की ईमानदारी का ग्राहक पर अच्छा असर पड़ता है। कम से कम जान पहचान के ग्राहकों के लिये अपनी वस्तु का दोष भी स्पष्ट रूप से बता देना उसका उत्तरदायित्व हो जाता है। यद्यपि 'बाजार में आँखें खोलकर आओ' का सिद्धांत बहुत से स्थानों में मान्य होता है तथापि प्रतिष्ठित दूकानदारों के लिये विशेषकर परिचित ग्राहकों के साथ यह निजी उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह ग्राहक की भेदक दृष्टि में भी न आने वाले दोषों को बतलाए। भला दूकानदार आँखों के अंधे ग्राहक को

दृष्टि प्रदान कर देता है। वस्तु को वायदे और नमूने के अनुसार तथा निश्चित की हुई दर पर ही ग्राहक के घर पर पहुँचा देना ग्राहक के हृदय में स्थायी प्रभाव डालता है। दूकानदार को हमेशा यह ध्यान रखना चाहिये कि काठ की हाँडी एक बार ही चढ़ती है। दूकानदार की साख लाख से भी अधिक मूल्यवान् होती है।

हिसाब-किताब की सफाई—ईमानदारी के साथ हिसाब-किताब की सफाई भी एक आवश्यक साधन है। 'कैशमीमो' भी बिना माँगे देना, हिसाब समझाने में आलस्य न करना, उधार खाते में किसी प्रकार की गड़बड़ी न होना, ग्राहक को दूकानदार का अनुरक्त बनाये रखता है। उधार के लिये ग्राहक को प्रोत्साहन तो न देना चाहिये किन्तु इस सम्बन्ध में कम से कम प्रतिष्ठित ग्राहकों को थोड़ी-बहुत सुविधा अवश्य देनी पड़ती है। उधार मिल जाने का प्रलोभन भी अपना चुम्बकीय आकर्षण रखता है। उसका दूकानदार की ओर से कोई दुरुपयोग न होना चाहिये। इसके अतिरिक्त तकाजे में बड़ी सावधानी रखनी चाहिये। न तो इतनी ढील ही देनी चाहिये कि ग्राहक उसे भूल जाय (दूकानदार चाहे शिष्टाचार में कहता यही रहे कि क्या जल्दी है, रुपये दूध पी रहे हैं; किन्तु दूध पिलाकर कर्जे को मोटा-ताजा न बना देना चाहिये) और न इतनी असावधानी, अशिष्टता और आतुरता दिखानी चाहिये कि ग्राहक दूकानदार को टुटपुँजिया, कम सम्मई वाला या अशिष्ट समझने लगे और उसका मन उसकी ओर से हट जाय।

शिष्टता और उपहार-प्रदान—ग्राहक को आकर्षित कर उसकी गाँठ से रुपये को निकाल लेने में ही विक्रेता के कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती है। ग्राहक के मन पर दूकानदार का सुप्रभाव घर तक बना रहे और उसके बाल-बच्चे भी प्रभावित हो जायँ। उसके लिये खरीदी हुई वस्तुओं का सुन्दर पैकिंग वाञ्छनीय है। दूकानदार को अपने ग्राहक को हर प्रकार की सुविधा देना आवश्यक है। दूकानदार अपने को ग्राहक के घर भी उसका 'नयन पथ गामी' बनाये रखना चाहता है। इसलिये प्रायः विदा होते समय छोटी-छोटी उपयोग की वस्तुएँ, जैसे कैलैंडर, डायरी, ब्लौटिंग पेपर, ऐशट्रे, फुटा, शूहोर्न, कोट-पैन्ट टाँगने के लकड़ी के फ्रेम आदि वस्तुएँ ग्राहक को प्रदान कर देता है। उसके लिये ताँगा

मँगा देना, उसका सामान ताँगे पर रखवा देना या बाजार से उसकी खोज की अन्य वस्तुएँ मँगवा देना—ये छोटी-छोटी शिष्टता की बातें ग्राहक के मन की ऊब को दूर कर देती हैं क्योंकि कुछ लोगों के लिये खरीददारी करना भी एक बड़े परिश्रम का कार्य हो जाता है। ग्राहक के इस परिश्रम के अनुभव को न्यूनातिन्यून कर देने में ही विक्रेता की सफलता है।

[*'व्यापार कानून'* (१६४७)]

एजेन्ट कैसा हो

राजा लोग अपने दूतों और मंत्रियों की आँख से देखा करते हैं। उसी प्रकार दूकानदार लोग भी अपने एजेन्टों के हाथ-पैर से काम किया करते हैं। वे उनके पूरे प्रतिनिधि होते हैं। उनका काम मालिक का ही काम होता है और उनकी जिम्मेदारी मालिक की जिम्मेदारी से कम नहीं होती है।

प्रायः वे लोग जो स्वयं अपना रोजगार नहीं कर सकते हैं दूसरों के एजेन्ट बन जाते हैं। दूकानदार भी ईश्वर की भाँति सर्वज्ञ और सर्वव्यापी नहीं होता है। वह यदि भिन्न-भिन्न स्थानों में अपना रोजगार फैलाना चाहे तो उसे उन स्थानों में अपने प्रतिनिधि की आवश्यकता होगी। इस प्रकार एजेन्ट को पूँजीपति मालिक की आवश्यकता रहती है और मालिक को एजेन्ट की। दोनों एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। उनके सहयोग से ही फर्म की सफलता होती है।

यद्यपि बहुत से बेकार लोग एजेन्ट बनने की स्पर्धा किया करते हैं, किन्तु हर एक गैरा-गैरा एजेन्ट बनने की योग्यता नहीं रखता। उसके लिये भी कुछ ईश्वरदत्त गुण चाहिये और साथ ही शिक्षा-दीक्षा और अनुभव भी। एजेन्ट के चुनाव में मालिक को पर्याप्त सावधानी की आवश्यकता है।

ईमानदारी और ठौर-ठिकाने का होना तो एजेन्ट की पहली आवश्यकता है किन्तु उसमें और भी बातें वाञ्छनीय हैं। सबसे पहले उसकी शारीरिक रूपरेखा और वेश-भूषा ऐसी हो जो सहज में दूसरों को प्रभावित कर सके। एजेन्ट की मुख-मुद्रा ऐसी होनी चाहिये कि उससे सावधानी, कुशलता, जानकारी, कार्यशीलता और प्रसन्नता की किरणें सी प्रस्फुटित होती दिखाई दें। वेश-भूषा सभ्य समाज में प्रवेश प्राप्त करने के पासपोर्ट का काम देती है। वेश-भूषा न तो इतनी सजधज की होनी चाहिये कि उससे उसकी सुकुमारता और अकर्मण्यता का भान होने लगे और न ऐसी हो जिसमें कि लापरवाही

की झलक हो। वेश-भूषा भी एक कला है। सादगी में प्रभाव उत्पन्न करना विरले ही लोग जानते हैं। वेश-भूषा ऐसी होनी चाहिये कि उससे उसकी स्थिति का पता चले कि यह आदमी कुछ ठौर-ठिकाने और मातबरी का है। एजेन्ट के लिये दूसरों पर कम से कम ऐसा प्रभाव डालना आवश्यक है कि यह मनुष्य बात का पक्का है और ले-उड़ा या उचक्का नहीं है। एजेन्ट की अच्छी वेष-भूषा यदि जरूरत से ज्यादह सजधज की नहीं है तब मालिक को यह न अनुमान कर लेना चाहिये कि यह आदमी ईमानदार नहीं रह सकेगा। वेश-भूषा एक कला है। जो इस कला को जानते हैं वे कम खर्च में भी बाला-नशीन होने का प्रभाव डाल सकते हैं।

वेश-भूषा के अतिरिक्त बातचीत का ढंग एजेन्ट की दूसरी बड़ी आवश्यकता है। वेश-भूषा भी तभी काम देती है जब उसके साथ बातचीत का ढंग भी प्रभावशाली हो। रेशमी वस्त्र तथा सूट-बूट, कालर, नेकटाई और चमड़े का बेग तभी शोभा देते हैं जब एजेन्ट अपने विषय में पटु हो और जानकारों की सी बातचीत करे। एजेन्ट चाहे बीमा कम्पनी का हो चाहे व्यापारिक फर्म का, उसे जिसके साथ व्यवहार करना है उसकी मनोवृत्ति का पता होना चाहिये। हर एक आदमी से सफलता प्राप्त करने की अलग अलग कुञ्जियाँ होती हैं किन्तु साधारणतया उसको ऐसा प्रभाव उत्पन्न करने की आवश्यकता है कि कार्य अत्यन्त आवश्यक और लाभदायक है और उसके करने का यही शुभ मुहूर्त है। एजेन्ट को यह जतलाने की जरूरत होती है कि सौदा दोनों पक्ष के लिये लाभदायक है। आजकल दूकानदारी में कोई मनुष्य दूसरों को लाभ पहुँचाने और परोपकार की भावना की सचाई में विश्वास नहीं करता है। कुछ मूर्ख लोग अब भी यह समझ लेते हैं कि अमुक आदमी ने हमारे साथ बड़ी रिआयत की है। ऐसे लोगों के लिये रिआयतों की चित्रशाला सामने लाना ठीक होगा। एजेन्ट को अपने विषय की उच्च जानकारी की धाक जमा देना चाहिये जिससे कि ग्राहक उसकी बात को मानने को तैयार हो जाय।

बातचीत की भाँति ही लिखापढ़ी का ढंग जानना भी

अत्यन्त वाञ्छनीय है। बातचीत में जो काम वेश-भूषा से होता है वह काम लिखा पढ़ी में पत्रों की छपाई-सफाई से होता है। अच्छे कागज पर शुद्ध छपे हुए पत्र ग्राहक के मन में अपना स्थान बना लेते हैं। पत्रों में हर एक बात स्पष्ट, बिना लगालेस के और सिलसिलेवार हो। पत्र ऐसा मालूम हो जैसे किसी सुरुचि वाले मनुष्य के कमरे में सब चीजें अपने स्थान पर दिखाई देती हैं। इसके लिये एजेन्ट में फुर्ती की आवश्यकता है। पत्रों का उत्तर यदि तत्काल न दिया जाय तो व्यापार में हानि होने की सम्भावना रहती है। जरा सा आलस्य भारी दुष्परिणाम उत्पन्न कर सकता है।

हिसाब किताब की सफाई मालिक और ग्राहक दोनों के लिये ही आवश्यक है। एजेन्ट का काम जितना ग्राहक को सन्तुष्ट रखना है उतना ही मालिक को। हिसाब किताब की सफाई ईमानदारी में सहायक होती है। जहाँ हिसाब किताब की लापरवाही होती है वहाँ बेईमानी और फिजूलखर्ची को भी प्रलोभन मिल जाता है। हिसाब किताब चाहे अँग्रेजी कायदे से हो और चाहे हिन्दुस्तानी कायदे से, किन्तु हो पूर्ण व्यवस्था के साथ। उसमें किसी प्रकार का पिछड़ापन न होना चाहिये। बेईमानी के न होते हुए भी हिसाब किताब का अद्यतन (रोज का रोज) न होना बेईमानी का प्रमाणपत्र दिला देता है।

इन सबके अलावा जो सबसे जरूरी चीज है वह है मालिक का हितचिन्तक होना। जितना मालिक ने काम सौंपा हो उससे भी अधिक करने को वह तैयार रहे। जहाँ मालिक अपनी हिदायतों में कुछ भूल भी कर गया हो वहाँ एजेन्ट का काम है कि जो समय पर उचित हो उसी को मालिक की आज्ञा समझे। मालिक अपने एजेन्ट को मिट्टी के माधव के रूप में नहीं देखना चाहता है। एजेन्ट चैतन्य मनुष्य है। उसमें गाँठ की अकल और मौके पर स्वयं अपना निर्णय करने की शक्ति होनी चाहिये। मालिक का भी यह धर्म है कि वह अपने एजेन्ट में स्वयं निर्णय करने की शक्ति को प्रोत्साहन दे। वह उसे लिखी हुई हिदायतों का दास न बनावे। दुनियाँ बड़ी पेचीदी है; लिखी हुई हिदायतों की खानापूरी में बाँधी नहीं

जा सकती है। किस मौके पर क्या करना है यह एजेन्ट को स्वयं ही निर्णय करना पड़ेगा।

स्वयं निर्णय करने में यदि दो एक बार नुकसान भी हो जाय तो उससे मालिक को विचलित न होना चाहिये वरन् उसको पूरी स्थिति समझाकर स्वयं निर्णय करने की दक्षता प्राप्त करानी चाहिये।

मालिक का दूसरा धर्म यह है कि अपने एजेन्ट को प्रसन्न रक्खे जिससे कि उसे स्वयं अपना निजी व्यापार करने की प्रवृत्ति न हो और न वह दूसरी जगह जाना चाहे। खुश रखने के लिये उचित वेतन या लाभ में हिस्सा देना तो आवश्यक है ही, एजेन्ट पर पूरा विश्वास रखना भी उतना ही जरूरी है। जब तक एजेन्ट की बेईमानी न प्रमाणित हो जाय, उसे बेईमान न समझना चाहिये और कम से कम उस पर यह न प्रकट होने देना चाहिये कि वह बेईमान समझा जा रहा है। जब आदमी यह समझता है कि वह बेईमान समझा जा रहा है तो उसकी प्रवृत्ति वास्तव में बेईमान बनने की हो जाती है। जब कलंक लग ही गया तो मौज से भी क्यों वञ्चित रहे? जिस प्रकार एजेन्ट में स्वामिभक्ति आवश्यक है उसी प्रकार मालिक में एजेन्ट के साथ सद्व्यवहार और उसके प्रति विश्वास अत्यन्त वाञ्छनीय है।

[*'व्यापार कानून'* (१६४७)]

विज्ञापन की कला

विज्ञापनबाजी चाहे अखबार और छापेखानों के प्रगतिशील युग की देन हो किन्तु विज्ञापन की प्रवृत्ति अर्थात् अपने और अपनी चीज को ज्वलन्त प्रकाश में लाने की चाह मानव समाज में चिरकाल से वर्तमान है। जंगल में आखेट के सहारे जीवन-यात्रा चलाने वाले आदिम पुरुष या स्त्री जो अपने को रङ्ग बिरङ्गे गोदनों से विभूषित करते थे, उनके वे अलङ्करण एक दूसरे को आकर्षित करने के रङ्गीन विज्ञापन के सिवाय और क्या थे? पर्दे के दुर्भेद्य दुर्ग में रहने वाली असूर्यस्पर्शा रमणियाँ भी अपने कंकण, किंकणी, नूपुर एवं पायलों की झंकार द्वारा अपने लावण्यमय अस्तित्व का पुकार-पुकार कर परिचय देती थीं।

नुकीली मूँछें, लहराती-फहराती डाढ़ियाँ, चमकते-दमकते पानीदार हथियार और अलकजाल या तर्कजाल सी उलझी हुई पेचदार रङ्गीन पागें, आकाश-पाताल के कुलाबे मिलाने वाली डींगभरी गर्वोक्तियाँ, ये सब शौर्य सौन्दर्य के आत्म-विज्ञापन ही तो थे।

'चूरन अमल वेत का जिसको खाते हैं बङ्गाली' गाकर रसिक चूरन बेचने वाले; भँवर काली जामनें, एवं पेड़ के पके पपीते की पुकार लगाने वाले रूपक और अनुप्रासप्रिय अलङ्कारशास्त्री फेरी वाले; चमन का अंगूर, काश्मीर का सेब, काबुल का सर्दा, कन्धारी अनार, बम्बई के केले, नागपुर के सन्तरे की आवाज लगाकर बिना फीस के भूगोल का पाठ पढ़ाने वाले मेवेफरोश; लैला की उँगलियाँ और मजनू की पसलियाँ कहकर पतली मुलायम ककड़ी बेचने वाले लखनऊ के कुँजड़े; 'क्या खूब सौदा नकद है, इस हाथ दे उस हाथ ले, साँझ का दिया सवेरे पावे' की सदा लगाने वाले परलोक व धर्म के व्यापारी फकीर; हर माल पाँच आने कहकर अपना सामान लुटाने वाले दिलदार ठेले वाले सौदागर; बादाम का मजा मूँगफली में है, खस्ता मुरमुरी बादाम-पिस्ते वाली गजक तथा दहीबड़े मसाले पड़े का उद्घोष करने वाले

चलते-फिरते स्कन्धवाही दूकानदार—ये सब एक से एक बढ़कर विज्ञापन-कला-विशारद ही तो होते हैं किन्तु उनकी आवाज उनके साथ ही चलती है और वह कुछ ही क्षणों में हवा के अनन्त महासागर में विलीन हो जाती है। वह तन से हटा तो मन से भी हटा। खोंचे वाले के चले जाने के बाद बालक भी रोना-मचलना बन्द कर देता है।

नारद मुनि के अवतार स्वरूप समाचार पत्रों की बदौलत, जिनका प्रवेश सूर्योदय की स्वर्ण-रश्मियों के साथ घर-घर में हो जाता है और जो जब तक रद्दी-बोतल वाले के बोरे के हवाले न हो जायँ घर के कोने-कोने में अधिकार जमाये रहते हैं, विक्रेताओं की आवाज घर-घर में गूंज जाती है और विक्रेता लोग अपनी गद्दियों या अपने सोफासेटों का आनन्द लेते रहते हैं।

अखबारों और प्रेस के सुलभ साधन होते हुए भी विज्ञापन देना एक कला है। सफल व्यापारी को अपनी वस्तुओं के प्रचार के लिये विज्ञापनों का चक्रव्यूह रचना पड़ता है। एक बार ऐसी भरोसे की वस्तु तैयार कर लेने पर जो कि बाजार में कम्पिटीशन के होते हुए भी अंगद की भाँति दृढ़ता के साथ अपना पैर जमा लेगी वह दिग्विजय की तैयारी कर लेता है। उसका हवाई हमला शुरू हो जाता है। वह ऐसी ही चीज तैयार करता है जो समाज की किसी बड़ी जरूरत को पूरा करे और यदि उसकी जरूरत न भी हो तो वह अपने प्रोपेगेन्डा के बल पर जरूरत को पैदा कर लेता है। चाय के प्रचार के कारणों में दूध का अपेक्षाकृत अभाव अवश्य है, किन्तु उसका असली श्रेय "गर्मियों में गर्म चाय ठंडक पहुँचाती है", "रोज चाय पीओ बहुत दिन जीओ" वाली निस्वार्थ सलाह अथवा उसके प्रचार के रंग-बिरंगे पोस्टरों को है।

विज्ञापनों द्वारा जनता की मनोवृत्ति का निर्माण होता है। बड़े विज्ञापनदाता 'चट मगनी पट ब्याह' वाले तात्कालिक प्रभाव में विश्वास नहीं करते। वे तो धैर्य के साथ 'कबहूँ तो दीनदयाल के भनक परेगी कान' वाली सावधानी की नीति में विश्वास करते हैं। वे सामूहिक प्रभाव के फल से भली भाँति परिचित रहते हैं। बहुत से जहर ऐसे होते हैं जिनका एकदम असर नहीं होता है वरन् उनका प्रभाव पूर्व जन्म के कर्मों की भाँति धीरे-

धीरे संचित होता रहता है। विज्ञापनों का भी प्रभाव इसी प्रकार का होता है। थोड़े दिन पूर्व कुछ चीनी दवाइयों के विज्ञापन निकले थे। उनमें एक आदमी दूसरे आदमी के दिमाग में कील ठोकता हुआ दिखाया जाता था। बस विज्ञापन का यही स्वरूप है। विज्ञापनदाता लुहार की सी एक चोट तो कम लगाता है किन्तु सुनार की सी धीरे-धीरे चोटें अधिक लगाता रहता है।

जब दस ठगों के बार-बार कहने से कि यह भेड़ नहीं है कुत्ता है, आदमी तथाकथित कुत्ते को फेंककर सर का भार हल्का कर लेता है तो एक ही बात को रोज-रोज देखते-देखते वस्तु की उपयोगिता में विश्वास जमने लगता है। झूँठे विज्ञापन वाले तो इस सिद्धान्त पर चलते हैं कि दुनियाँ बहुत बड़ी है, और उसमें बेवकूफों की कमी नहीं है, कोई न कोई शिकार फँस ही जायगा; किन्तु उनको यह ख्याल रखना चाहिये कि काठ की हाँडी एक ही बार चढ़ती है। हाँ, उनके भाग्य से उनको रोज नई हाँडी मिल जाती है किन्तु बकरे की माँ कब तक खैर मना सकती है। कभी न कभी कलई खुल ही जाती है। झूठे विज्ञापनदाता मनुष्य की आवश्यकताओं को भली भाँति समझते हैं। वे जानते हैं कि लोगों को किस बात की तलाश है। उनको इस बात से मतलब नहीं कि जरूरत पूरी होगी या नहीं, किन्तु यह कि जरूरतमन्द शीघ्र ही उनके चुंगल में फँस जायगा। उनके विज्ञापन बड़े आकर्षक होते हैं। उनकी वस्तुएँ बूरे के लड्डुओं की भाँति होती हैं—जो खाये सो भी पछताये और न खाये सो भी पछताये।

झूठे विज्ञापन देने वालों को विज्ञापन की कला से कुछ अधिक काम लेना पड़ता है। उसके लिये तो उतनी ही चतुराई की आवश्यकता है जितनी कि ठगी में। किन्तु अच्छे और उपयोगी माल बनाने वालों को भी इस कला का सहारा लेना पड़ता है। 'मुश्क आनस्त कि खुद बिबोयद न कि अत्तार बिगोयद' अर्थात् कस्तूरी वही है जिसकी खुशबू खुद आये, न कि अत्तार कहे कि यह कस्तूरी है। संस्कृत में भी कहा है कि कस्तूरी की सुगन्ध बताने के लिये कसम खाने की जरूरत नहीं पड़ती—'नहि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते'। यह सब ठीक है किन्तु कस्तूरी की

खुशबू भी अत्तार की दूकान तक ही सीमित रहती है। उसके लिये भी विज्ञापन आवश्यक हो जाता है।

विज्ञापन देने वाले की सबसे पहली जरूरत यह है कि वह यह समझे कि उसकी वस्तु की खपत किस क्षेत्र में होगी। उसी क्षेत्र के अखबारों में वह विज्ञापन दे। खालसा अखबार में रेजर ब्लेड्स और सिगरेटों के विज्ञापन देने से लाभ न होगा और न वैष्णवों के अखबारों में चौकलेट, टॉफी, जेम और जेली के विज्ञापन अपना खर्चा निकाल सकेंगे। नंगों के देश में धोबी क्या करेगा?

विज्ञापन का ढंग और उसकी भाषा विज्ञापन-कला का प्रधान अङ्ग है। आजकल विज्ञापन देने वाला पृथ्वी पर स्वर्ग नहीं घसीट लाना चाहता है। वह सत्य और वास्तविकता की सीमाओं को जानता है। वह उनसे बाहर नहीं जाता। वह असम्भव या अविश्वसनीय बात नहीं कहता है।

विज्ञापन देने वालों में कुछ तो सीधा मार्ग पसन्द करते हैं और कुछ पेचीदा। लेकिन सीधे और पेचीदे दोनों मार्गों के लिये उसकी कला का ज्ञान आवश्यक होता है। विज्ञापन वाले के लिये यह जरूरी नहीं कि वह पूरा पेज मैटर से भर ही दे। बहुत से विज्ञापन देने वाले दो एक अंकों के पूरे पेज को कोरा छोड़कर नीचे केवल यही छाप देते हैं कि यह स्थान अमुक कम्पनी के विज्ञापनों के लिये सुरक्षित है। उसका प्रभाव पाठक पर कम से कम यह तो पड़ता ही है कि यह कम्पनी बहुत बड़ी है।

कोई कोई विज्ञापनदाता केवल यह विज्ञापन निकालते हैं कि अमुक दिन उनकी दूकान बन्द रहेगी; उनके कृपालु ग्राहक एक दिन पूर्व अपनी आवश्यक वस्तुएँ खरीद लें जिससे कि उनको किसी प्रकार की असुविधा न हो।

विज्ञापनदाता को सबसे पहली चिन्ता इस बात की होती है कि उसका विज्ञापन किस प्रकार पाठक की निगाह को आकर्षित कर ले। आजकल के भागदौड़ के युग में बहुत से लोगों को विज्ञापन पढ़ने की फुर्सत नहीं होती और वे विज्ञापन के पृष्ठों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं इसीलिये लोग विज्ञापन को ऐसे पृष्ठों में देना चाहते हैं जो आवश्यक रूप से पढ़े जाते हों। इससे यह

अभिप्राय नहीं कि साधारण पृष्ठों में विज्ञापन देना निरर्थक होता है। जरूरत वाला अपनी आवश्यकता की चीज को खोज ही निकालता है और आँख के अंधे गाँठ के पूरे बेकार लोगों की कमी नहीं जो समय का भार हलका करने के लिये विज्ञापन के पृष्ठों में भी अपनी दृष्टि रमाया करते हैं। फिर भी आवश्यक रूप से पढ़े जाने वाले पृष्ठों तथा कवरों पर विज्ञापन देना अधिक लाभ-दायक होगा क्योंकि उन पर चलते-फिरते की सहज में दृष्टि पड़ जाती है।

विज्ञापन की सफलता के लिये उत्तम स्थान ही आवश्यक नहीं है वरन् उस स्थान के अनुकूल सुपाठ्य और आकर्षक सामग्री भी जिसके बिना स्थान पर किया हुआ व्यय सार्थक नहीं होता। स्थान के अनुकूल मैटर न होना ऐसा लगता है जैसे कि सिनेमा की स्पेशल क्लास में मैले-कुचैले कपड़े पहने हुए भिखारी को बैठाल देना। ऐसा करना 'ऊँची दूकान, फीका पकवान' का उदा-हरण बन जायगा। विज्ञापन को आकर्षक बनाने के लिये उसमें मूर्त्तिमत्ता लाना पहली आवश्यकता है। पाठक की आँखों, बुद्धि और कल्पना पर जोर पड़े बिना, विज्ञापनदाता का अभिप्राय सूखे ईंधन की आग की भाँति एक साथ प्रकाशित हो जाय, यही विज्ञापन-कला की सफलता समझना चाहिये। यह मानी हुई बात है कि शब्दों की अपेक्षा तसवीरें अधिक आकर्षक होती हैं। मूर्त पदार्थ हमारे ध्यान को शीघ्र ही अपनी ओर खींच लेते हैं। तस-वीर नित्य नई और कुछ असाधारण होनी चाहिये। विविधता पाठक के मन में ऊब नहीं पैदा होने देती।

साहित्य की भाँति विज्ञापन-कला में तीर से सीधे निशाने का तो महत्व होता है किन्तु पाठकों की कौतूहल-वृत्ति को जाग्रत करने के लिये बात थोड़े-बहुत घुमाव-फिराव ढंग से कहने की भी आवश्यकता पड़ती है। उसमें एक विशेष आकर्षण आ जाता है। सीधी बात कहने पर बल अवश्य आ जाता है किन्तु वक्रता और घुमाव-फिराव में सौन्दर्य अधिक रहता है। भगवान् कृष्ण की छबीली झाँकी उनके त्रिभंगी बाँकेबिहारी रूप में ही मिलती है।

यदि मोटर ट्रकों का आकर्षक विज्ञापन देना हो तो ट्रकों की अपेक्षा हरे-भरे फलों की तसवीर देना अधिक श्रेयस्कर होगा।

उनके नीचे लिख दिया जाय कि यदि इनको ताजा का ताजा इस छोर से उस छोर तक पहुँचाना हो तो अपने निजी ट्रक खरीदिये। डालडा घी के विटामिन-बाहुल्य की घोषणा करने के लिये भागते-दौड़ते क्रिकेट या फुटबाल खेलते हुए बच्चे दिखाये जाते हैं और नीचे लिख दिया जाता है कि इस अपूर्व शक्ति और स्फूर्ति का स्रोत डालडा के टीन में है। कोटोजम बनाने वाले एक ओर भैंस को बिनौले खाते दिखाते हैं और नीचे की ओर उसका दूध दुहा जाता हुआ दिखाया जाता है। जब बिनौले भैंस के पेट में होकर घी पैदा करते हैं तो उनसे सीधा ही घी क्यों न निकाल लिया जावे। बात सीधी-सादी है। मनुष्य की समझ में आ जाती है।

विल्स सिगरेट के विज्ञापन में दुनियाँ के गोले के ऊपर एक बड़ा प्रश्न-चिह्न बना हुआ था। उसके नीचे यह प्रश्न था—'उत्तरी ध्रव के खोज करने वालों के नाम जानते हो?' उत्तर में उन तीन व्यक्तियों का नाम था जिनको उत्तरी ध्रुव की खोज का श्रेय दिया जाता है। यहाँ तक पाठक अपनी जानकारी बढ़ाने के लिये अवश्य पढ़ेगा। फिर उसको स्वाभाविक कौतूहल होगा कि इस बात से आगे की बात का क्या सम्बन्ध है?

आगे वह पढ़ता है कि यदि इस प्रश्न का उत्तर कि सबसे अधिक सुस्वादु और वाञ्छित सिगरेट कौनसा है, जानना चाहें तो उसका उत्तर नीचे देखिये। नीचे सिगरेट का नाम लिखा रहता है। पढ़ने वाला अगर सिगरेट पीता है तो एक बार उसके आजमाने की सोचेगा और वह नहीं पीता है तो विज्ञापन लिखने वाले की प्रशंसा करेगा।

अच्छे विज्ञापनों के लिये लोग गहरे पानी पैठकर दूर की कौड़ी लाते हैं। कैवेन्डर्स मैगनम सिगरेट के विज्ञापन में एक उकाब (*Eagle*) और एक बाज (*Hawk*) उड़ते हुए दिखाये जाते हैं। भला सोचिये, कहाँ उकाब और बाज और कहाँ मैगनम सिगरेट! उनके नीचे लिखा रहता है कि जिस तरह उकाब बाज से बड़ा होता है उसी तरह मैगनम साधारण सिगरेट से बड़ा होता है। खाली छोटे और बड़े सिगरेट पास-पास रख देने से इतना प्रभाव न पड़ता।

सिगरेट के और भी बहुत तरह के विज्ञापन होते हैं और हो सकते हैं। एक माता अपने बच्चे का प्रसन्नता के साथ स्वागत करती हुई दिखाई जा सकती है। जिस प्रकार माँ अपने बच्चे को देखकर खुश होती है उसी प्रकार शौकीन पीने वाला अपनी पसन्द की छाप को देखकर।

रेलवे के विज्ञापन में एक जगह दिखाया गया कि एक मालगाड़ी बैलून से लटकी हुई है। नीचे लिखा है कि यदि मालगाड़ियाँ बैलून से लटकाई जाकर इधर से उधर पहुँचाई जा सकें तो बड़ी सुन्दर बात हो किन्तु मालगाड़ियों को लोहे की पटरियों पर ही चलना होगा और वे सीमित हैं। इसलिये व्यापारियों को चाहिये कि गाड़ियों को अधिक देर तक लदा हुआ खड़ा न रहने दें।

सीमेन्ट के विज्ञापनों में प्रायः लोहे के कारखाने दिखाये जाते हैं और लिखा जाता है कि इन कारखानों का लोहा और कोयला सीमेंट की सड़कों पर होकर आता है। सीमेंट की उपयोगिता दिखाने के लिये उसके बने हुए स्वच्छ विशाल भवन दिखाये जाते हैं। उसमें लोगों की राष्ट्रीय भावना से लाभ उठाने के लिये उन इमारतों पर तिरंगा झण्डा फहराया हुआ दिखाया जाता है।

राष्ट्रीय भावना से चाय वालों ने काफी लाभ उठाया है। वे उसे स्वदेशी पेय बतलाते हैं। चाय पैदा अवश्य भारतवर्ष में होती है किन्तु उसका अधिकांश भाग विलायती कम्पनियों को जाता है। टी सेस कमेटी के लोग उल्टे-सीधे प्रमाणों से यह साबित करते हैं कि इसका उल्लेख सुश्रुत में आया है और यह पेय अशोक के समय में भी था।

विज्ञापन की कला में चाय के व्यापारी कुछ अधिक कुशल मालूम होते हैं। यदि यह कौशल उनके चाय पीने का ही फल है तो यह चाय के लिये सबसे बड़ा प्रमाणपत्र है। चाय वाले जानते हैं कि मनुष्य के लिए नेत्रों का आकर्षण गरमागरम वाष्प से सुवासित चाय के प्याले से कम नहीं होता है। इसी सहज आकर्षण का सहारा लेकर वे बड़े सुन्दर चित्र देते हैं।

एक चाय के विज्ञापन में अजन्ता की कला का एक

उत्कृष्ट नमूना देकर उसकी सर्वाङ्गीण पूर्ण कला की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई थी। उसके नीचे लिखा था—जैसी सर्वाङ्ग पूर्ण कला इस चित्र में है वैसी कला चाय के प्याले में है जो अमुक प्रकार की चाय से बनाई जा सकती है।

अभी हाल में जी० जी० फ्रूट कम्पनी का विज्ञापन हिन्दुस्तान टाइम्स में छपा है जिसमें एक परिवार के सभी लोग—पिता, पुत्र, स्त्री, पुत्री—बड़ी-बड़ी आँखें निकाले एक दूसरे की ओर शनि की सी क्रूर दृष्टि से देखते हुए अंकित हैं। एक की आँखें तो इतनी बड़ी बनाई गई हैं कि सहज में ही उत्सुकता जाग्रत हो जाती है कि आखिर माजरा क्या है, यह तूफान क्यों उठ खड़ा हुआ है? पीछे से पता चलता है कि क्रोध हाय-हत्या का बवण्डर एक गिलास फलासव पीने से शान्त हो जाता है।

मोदी के साबुनों के जो विज्ञापन निकल रहे हैं उनमें कहीं तो तिब्बती लोगों की तसवीर निकलती है जो जन्म भर नहीं नहाते और कहीं नदी किनारे बैठी हुई स्त्री की तसवीर। एक साबुन के विज्ञापन में कंधे पर काँवर धारण किये हुए एक गंगा-यात्री की तसवीर होती है। उसके नीचे लिखा रहता है कि मनुष्य को चाहे उतना पुण्य न मिले जितना कि गंगोत्री से रामेश्वरम् की यात्रा में मिलता हो किन्तु उस साबुन से नहाने से उतना सुख अवश्य मिलता है। इसमें अतिशयोक्ति अवश्य है किन्तु लिखने का ढंग वास्तव में प्रशंसनीय है। बादशाहों के हम्मामों की तसवीर देकर यह लिखा जा सकता है कि यह सब सुख साबुन की एक टिक्की से मिल सकता है।

वस्तु के बहुत से गुणों के गीत गाने से केवल एक आवश्यक गुण पर जोर देना अधिक लाभप्रद होता है। प्रायः दस-बारह साल हुए ब्रुक बौंड चाय वाले अपने गोल डब्बों की ही प्रशंसा निकाला करते थे—उनके गोल होने के कारण चाय हवा से सुरक्षित (Air-tight) रहती है जिससे कि चाय में दूषित वायु नहीं लगने पाती और उसका स्वाभाविक स्वाद नहीं बिगड़ता। उन दिनों लिप्टन वालों ने कुछ दिनों एक विज्ञापन निकाला जिसने कि ब्रुक बौंड के सारे प्रचार

पर पानी फेर दिया। उसने अपने इश्तहार में चाय के भरे हुए छकड़े दिखाये जो कि धूप में धीरे-धीरे जा रहे थे; उसके नीचे लिखा रहता था—'गोल डब्बों में बन्द होने के पूर्व की दशा; किन्तु यह लिप्टन की चाय नहीं है।'

अखबारी विज्ञापन ही विज्ञापन के एकमात्र साधन नहीं हैं। कुछ लोग कहानियाँ लिखवाते हैं जिससे उनकी वस्तु का विज्ञापन हो। केशरञ्जन तेल के प्रचार के लिये बंगला में एक जासूसी उपन्यास निकला था। उसमें दिखाया गया था कि एक स्त्री अपने अभिभावकों से पृथक् हो गई थी। उसका पता इस तरह लगा कि उसके सर में पड़े केशरञ्जन तेल की सुगन्ध बाहर तक फैली हुई थी। जासूस को मालूम था कि वह केशरञ्जन तेल डालती थी। उस घर की तलाशी लेने पर उस स्त्री का पता चल गया। डायरी, कैलेन्डर, पेपरवेट, तश्तरियाँ आदि भेंट करना तथा और भी अनेकानेक साधन हैं।

डायरी और सूचीपत्रों में ऐसी ज्ञातव्य बातें लिखी जाती हैं जिनके लिये लोग उन्हें सुरक्षित रक्खें। कौन नहीं चाहेगा कि उसके पास पत्रा हो क्योंकि पत्रे की आवश्यकता को तो कविवर बिहारी भी नहीं मिटा सके थे ('पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहुँ पास, निसदिन पूनो ही रहै आनन-ओप-उजास')। कौन नहीं चाहेगा कि उसके पास एक-एक दिन की तनुख्वाह का तुरन्त हिसाब लगाने वाला नक्शा हो? छुट्टियों की सूची सभी अपने पास रखना चाहते हैं। डाकखाने की पार्सल वगैरह की रेटों की जानकारी से सभी लोग लाभ उठाना चाहते हैं।

आजकल तो विज्ञापन वाले शहर की दीवालों को रङ्ग मारते हैं किन्तु उनकी विशेष कदर नहीं होती। इन मुफ्त या चोरी के विज्ञापनों से तो किसी की दीवाल किराये पर ले लेना अधिक लाभदायक तथा सज्जनोचित है।

ट्रेन, बस, रेलवे स्टेशन की दीवालें आदि नोटिसों के लिये भित्ति का काम देती हैं। बहुत से लोग अखबार केवल विज्ञापन की सुविधा के लिये निकालते हैं क्योंकि उसमें एक पैसे के ही टिकट से काम चल जाता है।

आजकल के सिनेमा-प्रेमी संसार के लिये स्लाइडों द्वारा विज्ञापन देना विशेष रूप से सफल होता है क्योंकि स्लाइड का मेटर बरबस आँखों के सामने आ जाता है। किन्तु कभी-कभी जब इनकी संख्या बढ़ जाती है तब दर्शक लोग विज्ञापन की अपेक्षा फिल्म देखने के लिये अधिक उत्सुक होते हैं। स्लाइड की अपेक्षा फिल्म ज्यादह आकर्षक होती है। इसीलिये बड़ी-बड़ी कम्पनियों के चलते हुए कारखानों की फिल्म दिखाई जाती हैं जिससे कि पाठकों के मन पर उनके कार्य-व्यापार की विशालता का प्रभाव पड़े। बङ्गाल केमीकल, कोटोजम और डालडा कम्पनियों के कारखानों की फिल्मों का प्रदर्शन हो चुका है। कोई-कोई मनचले लोग हवाई जहाज द्वारा विज्ञापन वितरण कराते हैं। ये सब ग्राहकों को आकर्षित करने के विभिन्न रूप हैं।

आजकल विज्ञापन का युग है। बहुत सी विदेशी कम्पनियाँ तो तीन चौथाई रुपया विज्ञापन में खर्च करना चाहती हैं और एक चौथाई रुपया वस्तु के बनाने में।

आजकल की व्यापारिक सफलता का अधिकांश श्रेय विज्ञापनों को है। विज्ञापनों का कौशलपूर्ण आयोजन और संयोजन कुशल व्यापारी का प्रथम कर्तव्य है। इसके लिये अनुभव, शिक्षा और सत्परामर्श की आवश्यकता है।

[*'व्यापार कानून'* (१९४७]

मिल मजदूर

उसके कार्य-कौशल बढ़ाने में मनोविज्ञान का उपयोग

मशीन और मनुष्य—यह कलियुग नहीं, कल-युग है। इसमें यन्त्रों का प्राधान्य है। वर्तमान सभ्यता ने हमारी आवश्यकताओं को बढ़ाकर वस्तुओं के उत्पादन की समस्या को कठिन बना दिया है। वैयक्तिक गृह-उद्योग उन आवश्यकताओं की पूर्ति में असमर्थ रहते हैं। बिजली और भाप की शक्ति से चलने वाली मशीनें भी खटाखट दिन-रात दो-दो पारी काम करके भी देश की माँग को पूरी नहीं कर पातीं। इसीलिये महात्मा गाँधी के सरल जीवन और खादी और गुड़ के प्रचार के होते हुए भी यन्त्रों का साम्राज्य बढ़ता जा रहा है। कोई चीज ऐसी नहीं है जो मशीन से न बनती हो और जिसके कारखाने न होते हों।

प्राचीन गृह-उद्योगों और आजकल के कल-कारखानों के उद्योगों में एक यह बड़ा अन्तर है कि गृह-उद्योगों में उत्पादक प्रायः पूँजीपति और मजदूर एक ही होता था और आजकल की मिलों में पूँजीपति और मजदूर अलग-अलग वर्ग हो गये हैं। पूँजीपति प्रायः एक होता है, मजदूर अनेक। दूसरा अन्तर यह है कि गृह-उद्योग में प्रायः एक ही व्यक्ति एक वस्तु के निर्माण का आदि से अन्त तक उत्तरदायी होता था और वह उस वस्तु का उत्पादक या जनक होने का वास्तविक गर्व कर सकता था। उसकी उत्तरोत्तर उन्नति के लिये वह उत्सुक रहता था। इसके विपरीत मिलों में एक वस्तु अपनी पूर्णता प्राप्त करने से पूर्व कई कार्य-श्रेणियों में होकर गुजरती है और कई मजदूर उसके किसी अंश के ही (पूर्ण के नहीं) उत्पादन और निर्माण के उत्तरदायी होते हैं। मिल के मजदूर को उसकी मिल में तैयार की हुई धोती या चादर पर वह गर्व नहीं हो सकता जो कि एक जुलाहे को अपने बने हुए खादी के थान पर। गृह-उद्योग का मजदूर एक कलाकार का व्यक्तित्व रखता है और मिल का मजदूर एक बँधे हुए ढाँचे में काम करता है। वह दूसरे की ताल पर नाचता है और मशीन के

साथ काम करता हुआ स्वयं मशीनवत् हो जाता है। वह व्यक्ति नहीं, एक इकाई मात्र रह जाता है।

वैयक्तिक कौशल—यद्यपि मिल में मशीन बहुत कुछ काम करती है, जो एक आदमी को बीस आदमी के काम करने की शक्ति दे देती है, फिर भी वह मनुष्य का नितान्त बहिष्कार नहीं कर सकती। उसका संचालन और उपयोग मनुष्य के हाथ में रहता है। मशीन से अधिक से अधिक लाभ उठाना और उसको अच्छी हालत में रखना व्यक्ति का ही काम है। मिल में एक व्यक्ति का आंशिक उत्तरदायित्व होते हुए भी वह उतना ही आवश्यक है जितना कोई मशीन का पुर्जा। यद्यपि यह ठीक है कि मिल में एक मजदूर के स्थान में दूसरा मजदूर रक्खा जा सकता है, इसी तरह से मशीन का पुर्जा भी बदला जा सकता है, तथापि जैसे उसके 'फिट' होने और घिसने-मँजने में देर लगती है वैसे ही नये मजदूर के भी उस कार्य-प्रणाली में 'फिट' होने में देर लगती है। इसलिये नौकरी का स्थायित्व जितना मजदूर के लिये जरूरी है उतना मालिक के लिये भी। मजदूर का आंशिक उत्तरदायित्व होते हुए भी हर एक मजदूर के वैयक्तिक कौशल और उसकी योग्यता (efficiency) पर बहुत कुछ निर्भर रहता है। मजदूर के वैयक्तिक कौशल के बिना मशीन का कौशल निरर्थक रहता है।

मनोविज्ञान की आवश्यकता—यह कौशल बाह्य और आन्तरिक कारणों से घटता और बढ़ता रहता है। मशीन के न मन होता है और न हृदय, किन्तु उसका कौशल और कार्य-सम्पादन का परिमाण उसकी सफाई और देख-रेख पर निर्भर रहता है; फिर मजदूर तो हाड़-माँस-चाम का सजीव मनुष्य है, उसके मन भी होता है और हृदय भी, जो प्रत्येक सुख की तरङ्ग और दुख की चुभन पर स्पन्दित हो उठता है और उसके मन और हृदय की प्रत्येक फड़कन उसकी कार्य-प्रणाली में अन्तर डालती है। मजदूर की कार्य-प्रणाली के अन्तर पर मालिक का नफा-नुकसान निर्भर रहता है। इसलिये मजदूर को समझने के लिये मनोविज्ञान की आवश्यकता होती है। मजदूर के एक चेतन मन (Conscious Mind) होता है जो उसको अपने कर्तव्याकर्तव्य, नफा-नुकसान

का ध्यान दिलाता रहता है। उसका दूसरा अवचेतन मन (Sub-conscious Mind) होता है जो हर एक छोटी से छोटी कष्ट की चुभन, अपमान, हीनता भाव को बढ़ाने वाले वाक्यों आदि का चित्रगुप्त का सा लेखा-जोखा रखता है और मनुष्य की कार्य-प्रणाली को प्रभावित करता रहता है। मजदूर के एक सामूहिक मन (Group Mind) भी होता है, जिसकी प्रेरणा से वह जन-समूह की भाव-धारा में बहकर कभी उससे हड़तालें कराता है (जिस प्रकार स्त्रियों और बालकों का रोना बल होता है और मिनिस्टरों का त्यागपत्र दे देने का बल होता है उसी प्रकार मजदूर का 'हड़ताल' एक प्रबल अस्त्र होता है) और कभी उससे मिल मालिकों के खिलाफ नारे लगवाता है। व्यक्ति जो अकेला नहीं करता वह समूह के प्रवाह में पड़कर बिना लज्जा-संकोच करने लगता है। मनोविज्ञान हमको मजदूर के तीनों प्रकार के मनों को समझने में सहायक होता है।

वैयक्तिक रुचि—हर एक मजदूर या कार्यकर्त्ता की एक वैयक्तिक रुचि होती है। प्रायः लोग उस रुचि के अनुकूल तो काम नहीं तलाशते। काम मिलना न मिलना इस देश में बहुत कुछ आकस्मिकता पर निर्भर रहता है। इसमें सिफारिश और प्रभाव भी काम करता है। जहाँ जगह खाली हुई वहाँ आदमी की भर्ती कर दी जाती है। लेकिन मनुष्य सफल तभी होता है जब उसको उसकी रुचि और योग्यता के अनुकूल काम मिलता है। अगर हम ऐसे आदमी को जो बहीखाता लिखने में रुचि करता हो, सूत सुलझाने पर लगादें तो वह उस काम में मुश्किल से ही सफल होगा। सूत सुलझाने वाला कपड़े की रँगाई या माढ़ देने में कुशल नहीं हो सकता। वैयक्तिक रुचि का निश्चित करना सहज काम नहीं है। इसके लिये कुशल मनोवैज्ञानिक की आवश्यकता है। कार्य का चुनाव यदि मजदूर या कार्यकर्ता पर ही छोड़ा जाय तो अच्छा रहता है। एक दो दिन परीक्षा में लग जायँ तो भी बुराई नहीं, किन्तु कौशल के लिये उपयुक्त मनुष्य को उपयुक्त स्थान में लगाना चाहिये। अनुपयुक्त मनुष्य को सदा एक न एक शिकायत बनी रहती है। 'नाच न जाने आँगन टेढ़ा' की लोकोक्ति सार्थक हो जाती है। पाश्चात्य देशों में हर एक काम का विश्लेषण किया जाता

है। उसके लिये साधारण मनुष्य को कितना समय लगेगा, ये सब बातें निश्चित रहने पर व्यवसाय के लिये मनुष्य को वैज्ञानिक परीक्षा में वे लोग समर्थ होते हैं। ऐसे परीक्षणों को व्यवसाय सम्बन्धी परीक्षण (Vocational tests) कहते हैं।

थकावट की समस्या—थकावट की समस्या यद्यपि बहुत कुछ योग्यता और रुचि पर निर्भर रहती है तथापि मनुष्य मनुष्य ही है। जब मशीन भी थक जाती है तब मनुष्य का क्या कहना है? थकावट हो जाने पर कार्य-कौशल कम हो जाता है और वस्तु अच्छी नहीं बनती। थकावट दूर करने के लिये विश्राम की आवश्यकता रहती है और शक्ति के पुनः संचय के लिये कुछ जलपान का भी प्रबन्ध श्रेयस्कर होता है। विश्राम के समय में कुछ मनोविनोद की आवश्यकता रहती है जिससे लगातार एक ही प्रकार के काम करने की ऊब दूर हो जाय। मशीन के काम में हाथ के काम की अपेक्षा अधिक ऊब पैदा होती है। ऊब पैदा होने पर जब वह अन्यमनस्क हो काम करने लगता है या दिवा-स्वप्न देखने लगता है तब दुर्घटनाएँ होने की अधिक सम्भावनाएँ रहती हैं। इसलिये मजदूरों की ऊब कम करने का यत्न तो होना चाहिये ही; कभी-कभी योग्यतानुकूल काम में थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर देना भी आवश्यक होता है किन्तु उनकी सचेतता का भी निरीक्षण करते रहने की आवश्यकता है। यदि मजदूरी काम के अनुकूल दी जाय तो असावधानी पर्याप्त मात्रा में कम हो जाती है।

ऊब के अतिरिक्त थकावट के और भी कारण होते हैं। मशीन की खराबी के कारण उसमें आवश्यकता से अधिक परिश्रम कार्यकर्त्ता में झँझल उत्पन्न कर देता है। उसको तुरन्त दुरुस्त करा देना चाहिये। काम करने की स्थिति से, अर्थात् किसी खास तरह से बैठने या खड़े रहने में दूसरी तरह से खड़े रहने या बैठने में अधिक या कम परिश्रम पड़ता है अथवा जगह की कमी के कारण स्वतंत्र हाथ-पैर चलाने की पूरी गुञ्जाइश न होने से भी काम की सफाई और शीघ्रता में अन्तर पड़ जाता है। इन उप-करणों के अतिरिक्त रोशनी, हवा और तापमान का भी थकावट पर बहुत प्रभाव पड़ता है। बिजली की रोशनी से सूर्य का प्रकाश

अधिक स्वास्थ्यजनक है। प्रकाश न तो इतना उग्र हो कि चकाचौंधी उत्पन्न कर दे (इसके लिये अच्छी ढाँप (Shade) की उचित व्यवस्था होनी चाहिये) और न इतना कम हो कि झुक-झुककर देखना पड़े या आँखों पर जोर डालना पड़े। प्रकाश में छाया का भी ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं कार्यकर्ता की छाया ही तो उसके काम की चीज को अन्धकार में नहीं डाल देती है। प्रकाश के लिये यह जानना चाहिये कि काले और गहरे रंग की वस्तुएँ प्रकाश को पूरा-पूरा प्रतिफलित नहीं होने देतीं। सफेद पुती हुई दीवालें प्रकाश को पूरा का पूरा प्रतिफलित कर देती हैं।

सीलदार या बदबूदार जगहों में, विशेषकर जहाँ हवा का स्वतन्त्र संचार न होता हो, मनुष्य जल्दी थक जाता है। उसके स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है और वह शीघ्र ही काम करने के अयोग्य हो जाता है। गर्मी-सर्दी भी काम पर अपना प्रभाव डालती हैं। यदि पसीना चू रहा हो तो आधा समय पसीना पोंछने में चला जाता है। इसी प्रकार शीत भी हाथों में ठिठुरन पैदा कर कार्य की क्षमता को घटा देता है। शोर-गुल और खट-खट भी झूँझल और थकावट पैदा करने वाली चीजें हैं। किन्तु फेक्टरी या मिल में इनका नितान्त बहिष्कार नहीं हो सकता है। शोर-गुल यथासम्भव कम किया जा सकता है। ये छोटी-छोटी असुविधाएँ मनुष्य के अवचेतन मन पर असर डालती रहती हैं और ये चेतन मन को भी प्रभावित करती रहती हैं। जब कोई भारी आर्थिक शिकायतें होती हैं तब ये पूर्ण रूप से उभार में आकर उन शिकायतों को बल प्रदान करती हैं और व्यक्ति समूह के प्रभाव में सहज ही में आ जाता है।

निश्चिन्तता—मजदूर या कार्यकर्ता की कार्यक्षमता को घटाने वाले उपकरणों में उसका चिन्तित रहना भी है। इसी के लिये कुशल-क्षेत्र (Welfare Centres) और सुविधाओं की देख-रेख करने वाली संस्थाओं का जन्म होता है। मजदूर के लिये सबसे अधिक चिन्ता की चीज उसकी नौकरी है। नौकरी की निश्चिन्तता सबसे पहली आवश्यकता है। इसके साथ यदि बुढ़ापे के समय के लिये बेफिक्री हो जाय तो उसको दूसरे किसी काम करने की चिन्ता नहीं रहती है। इसके लिये पेन्शन, बोनस, प्रोवीडेन्ट फंड, सामू-

हिक बीमा आदि की व्यवस्था आवश्यक है। इन बातों से काम करने के लिये प्रोत्साहन भी मिलता है। इसके पश्चात् घर या रहने के स्थान की और उसकी सुव्यवस्था की निश्चिन्तता है। प्रायः बड़ी-बड़ी मिलें मकानों का भी प्रबन्ध करती हैं। अगर घर दूर हो तो आने जाने की भी निश्चिन्तता आवश्यक है। अपना और घर वालों का स्वास्थ्य और हारी-बीमारी के समय डाक्टरी मदद की निश्चिन्तता भी परम वाञ्छनीय है। खतरे से बेफिक्री भी इसी के साथ की सोचने की चीज है। इसके लिये सबसे ज्यादह जरूरी है चलने-फिरने तथा हाथ-पैर चलाने के लिये पर्याप्त स्थान की गुञ्जाइश।

हारी-बीमारी के अतिरिक्त मजदूर के सामने बच्चों की शिक्षा का भी प्रश्न रहता है। बहुतसे कारखाने अपने कार्यकर्ताओं के लिये अलग स्कूल खोल देते हैं जिनमें निःशुल्क शिक्षा मिलती है। कन्ट्रोल के समय तो राशन और नोन-तेल-लकड़ियों को घर पहुँचाने की समस्या भी उग्र हो जाती है। इसके लिये भी मिल-मालिक को कुछ प्रबन्ध करना वाञ्छनीय है। मजदूर के आराम और छुट्टी के सम्बन्ध में तो पहले ही कहा जा चुका है।

सद्व्यवहार—व्यक्ति पर प्रभाव डालने वाली वस्तुओं में व्यवहार सबसे बड़ी चीज है। एक जरा सी कटुता का बीज अवचेतन मन में पहुँचकर कभी-कभी भयङ्कर रूप धारण कर लेता है। गैरहाजिरी-कटौती के मामले में न तो इतना लापरवाह होना चाहिये कि अनुशासन ही न रहे और न इतना कठोर कि वह कठोरता अखरने लगे। मालिक की अनुदारता कभी-कभी विद्रोह का कारण बन जाती है। इस सम्बन्ध में सबके साथ अगर समान व्यवहार रहे तो व्यक्ति में जलन नहीं उत्पन्न होने पाती है। थोड़ी सी भी असमानता या पक्षपात आपस में ईर्ष्या-द्वेष ही नहीं उत्पन्न कर देता वरन् मालिक के प्रति भी विद्रोह की जड़ें जमा देता है।

सद्व्यवहार में दूसरी आवश्यक बात यह है कि मजदूर में किसी प्रकार के हीनता-भाव को न उत्पन्न होने देना चाहिये। उसके साथ उत्सवों में शामिल होना उसके सुख-दुख की पूँछना इस हीनता-भाव को कम कर देता है। वाणी का बाण बहुत

जहरीला होता है। वाक्-बाणों का यथासम्भव कम प्रयोग करना चाहिये। हमको कभी यह न भूलना चाहिये कि मजदूर भी मनुष्य है। पूँजीपति उसी की बदौलत मौज करता है। यदि मजदूर की आंशिक मौज या सुविधाओं में अन्तर आया तो उसको एक साथ पूँजीपति और मजदूर का अन्तर मालूम पड़ने लगता है और उसमें विद्रोह की भावना जाग्रत हो जाती है।

मजदूर का सामूहिक मन—मजदूर के सामूहिक मन (Group Mind) को प्रभावित करने वाले थोड़े से विद्रोही नेता (Ring Leaders) होते हैं जो कुछ मोटी-मोटी बातों व चुने-चुनाये शब्दों के आधार पर मजदूर को एक प्रवाह में बहा ले जाते हैं। उस *समय व्यक्ति सोचता कम है, वह भावों से आन्दोलित हो जाता* है। नारे उसके जीवन के आदर्शवाक्य बन जाते हैं। यदि उसकी कोई वैयक्तिक कठिनाइयाँ होती हैं या उसके साथ कोई असद्-व्यवहार हुआ हो तो यह सामूहिक चेतना और भी बल पकड़ जाती है। बहुतसी सामूहिक शिकायतों के मूल में वैयक्तिक शिकायतें होती हैं जिनकी पहले उपेक्षा की गई थी। वैयक्तिक शिकायतों की उपेक्षा न करके उनके आधार पर और लोगों की भी शिकायतों को दूर कर देना चाहिये। सामूहिक मन के प्रभावित हो जाने पर सहृदयता से काम लेना चाहिये किन्तु पूरे समूह को समझाने और उससे शर्तें तय करने का प्रयत्न न करना चाहिये। समूह के मन नहीं होता। मन और चिन्ता-शक्ति नेताओं को होती है। उनसे प्रतिनिधि रूप से समझौता करना चाहिये। ऐसा करने से अधिक सफलता मिल सकती है।

[*'व्यापार कानून'* (१६४७)]

चोर बाजार

नामकरण—कलकत्ते के चोर बागान की भाँति चोर बाजार शहर के किसी बाजार या मुहल्ले का नाम नहीं है जिसको आप सहज में तलाश लें और न वह किनारी बाजार या चाँदनी चौक का सा खुला बाजार है जहाँ ले जाकर ताँगा या टैक्सी वाला आपको खड़ा कर दे। वह भगवान् की भाँति हर एक बाजार में व्याप्त है और साधारण चर्मचक्षुओं से देखने वालों को कहीं भी नहीं है। चोर बाजार उसे इसलिये नहीं कहते हैं कि उसमें क्रय-विक्रय करने वाले चोरी का माल बेचते और खरीदते हैं। वह माल प्रायः सरकार की इजाजत से खरीदा हुआ होता है। खरीदार को धोकाधड़ी से माल नहीं दिया जाता। सोते में उसके घर में सेंध नहीं लगाई जाती, न उसके अनजाने गाँठ काटी जाती है। जितनी होश-हवास की दुरुस्ती के साथ माल-जायदाद का बयनामा लिखा जाता है, उससे भी अधिक चेतनता के साथ चोर-बाजार का सौदा होता है। बेचने वाले और खरीदार भी साधारण जनता की दृष्टि में धर्मात्मा, साव और साख वाले समझे जाते हैं; फिर यह चोर बाजार क्यों कहलाता है?

चोर बाजार यह इसलिये कहलाता है कि इसका माल खरीदा तो प्रायः सरकार की इजाजत से किन्तु बेचा जाता है सरकार की निश्चित की हुई दर के खिलाफ और सरकार की जानकारी से बाहर। इसका खुले आम सौदा होते हुए भी इसमें थोड़ी-बहुत गुपचुप का सा वातावरण रहता है। कीमत की या तो रसीद नहीं दी जाती और यदि दी भी जाती है तो वाजबी दामों की। वाजबी दामों से ऊपर के दाम बट्टे खाते जाते हैं। खेल खतम और पैसा हजम। गरज बावली होती है और गरज वाला खुशी-खुशी उल्टे उस्तरे से मुड़ जाता है। जिस काम को सबके सामने न कर सकें, जिसके करने को सबके सामने न स्वीकार कर सकें और जो बिना अधिकार किया जाय वही चोरी

का काम कहलाता है। इसलिये इस तरह के सौदे का नाम चोर बाजार पड़ा।

ब्लेक मार्केट और लक्ष्मीजी—अँग्रेजी में इसी को ब्लेक मार्केट या चलतू भाषा में ब्लेक कहते हैं। चोर को चाँदनी रात नहीं सुहाती, वह अंधकारप्रिय होता है। मावस की रात चोरों की मौसी कहलाती है, तभी अँग्रेजी में इसे काला बाजार कहते हैं और काला चोरी, दगाबाजी और बेईमानी का प्रतीक अर्थात् चिह्न भी है। लाक्षणिक अर्थ में जो काले दिल के आदमी का अर्थ होता है वही काले बाजार का अर्थ होता है। लक्ष्मीजी होती तो हैं स्वयं श्वेत वर्ण की (आजकल उनके चाँदी के चमकते-दमकते ठनठनाते रूप में दर्शन दुर्लभ हो गये हैं), उनको श्वेत कमल और सफेद चीजों से प्रेम भी है किन्तु वे आती हैं घोरतम काली अमावस की रात में। तभी वे ब्लेक मार्केट वालों के घर विशेष रूप से कृपा करती हैं।

उत्पत्ति के कारण—चोर बाजार लड़ाई और कन्ट्रोल के दिनों की उपज है किन्तु इसके कई और भी सहायक अंग हैं। कन्ट्रोल या नियंत्रण उसी वस्तु का होता है जिसका उत्पादन सीमित होता है। कन्ट्रोल के कारण विक्रेताओं की संख्या भी सीमित होती है। कन्ट्रोल की बदौलत छुटपुँजिये व्यापारी नष्ट हो गये। उन बेचारों के साथ पूर्ण सहानुभूति है। आजकल कन्ट्रोल का रोजगार ताँगे-मोटर वाले, बगुले के पर से सफेद कुर्ते पहनने वाले लक्ष्मी के लाड़ले और हाकिम अफसरों में प्रभाव और पहुँच वाले का ही है जो बातों की खातिर खुशामद के जबानी जमा-खर्च के साथ हर तरह की कसर खाने को भी तैयार रहते हैं। खुशामद से आमद है, इसी से बड़ी खुशामद है।

कन्ट्रोल का माल सीमित होता है, उसके बेचने वालों की संख्या सीमित होती है किन्तु उनकी लालच की सीमा नहीं होती और न खरीदारों की सीमा होती है। 'एक अनार और सौ बीमार' की बात हो जाती है। लड़ाई के दिनों में रुपयों की आमदनी भी बढ़ गई। इधर बेचने वाले भी वस्तु को इकट्ठा करके छिपाकर रखना चाहते हैं कि 'दाश्त आयद बकार'—रक्खी हुई चीज काम आती है—न जाने कब मिट्टी की चीज सोने की हो

जाय। और खरीदार भी इस फिक्र में रहता है कि फिर चीज मिले या न मिले, खरीद लो। माँग (Demand) और वस्तु की प्राप्यता (Supply) के स्वाभाविक नियम तो काम करते ही हैं किन्तु बेचने वालों का लालच और दूसरों की जरूरत से लाभ उठाने की प्रवृत्ति उसमें और भी सान चढ़ा देती है। जहाँ उसमें छिपाकर बेचने की भावना आई वहीं वह चोर बाजार की चीज बन जाती है। इस प्रवृत्ति को कन्ट्रोल विभाग के अफसरों की रुपये से खरीदी हुई दर-गुजर पालती-पोसती रहती है।

चोर बाजार के क्षेत्र—हर एक वस्तु जिसकी कीमत नियन्त्रित है उसके चोर बाजार का अलग-अलग विधान है, जिसको उसके जानकार ही भली प्रकार समझते हैं। चोर बाजार की विशेष वस्तुएँ गल्ला, शक्कर, कपड़ा, पेट्रोल, कागज, लोहा, सीमेन्ट, औषधियाँ, आदि हैं। अब प्रश्न यह है कि कन्ट्रोल के होते हुए ब्लैक मार्केट के लिये वस्तु आती कहाँ से है? कन्ट्रोल के प्रारम्भ होने से पहले तो लोगों के पास जो स्टाक था उसको छिपा लिया और उसको चोर बाजार में बेचा। कन्ट्रोल शुरू होने के बाद दूकानदारों ने माल इकट्ठा करने के नाना प्रकार के उपाय सोच लिये। आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है।

गल्ला—गल्ला वैसे तो कन्ट्रोल से मिलता ही है किन्तु गेहूँ इतना भी नहीं मिलता कि ईमानदारी से तो सत्यनारायण की कथा के प्रसाद के लिये पंजीरी भी बन जाय और 'गोधूमं शालि चूर्णं वा' अर्थात् गेहूँ का आटा न हो तो चावल का चूर्ण ही सही की बात चरितार्थ होने लगती है। लेकिन आजकल कन्ट्रोल के दिनों में यह बात हँसी की सी नहीं लगती, नहीं तो पहले जमाने में यह कहना कि गेहूँ न हो तो चावल का आटा लगा दो, ऐसा ही लगता जैसा कि एक कविराज का कहना 'महाराज! घोड़ा न हो तो हाथी ही दीजिये।' जब सत्यनारायण की कथा के लिये गेहूँ नहीं तो ब्याह-शादी के लिये कहाँ? किन्तु जहाँ ऐसा मौका आता है वहाँ हृदय के द्वार के साथ तिजोरियों के भी कपाट खुल जाते हैं और 'दोनों हाथ उलीचिये जो घर बाढ़े दाम' की बात चरितार्थ होने लगती है, वहाँ और लोगों के पेट भरने के साथ चोर बाजार वालों का भी पेट भरना पड़ता है। ईमानदारी से तो ब्याह में

नौ सेर गेहूँ मिलते हैं, वे तो ऊँट के मुँह में जीरे का काम देते हैं। फिर यह अन्न आता कहाँ से है? कुछ तो सीधा उत्पादक किसानों के यहाँ से—वे भी ब्लेक करना जान गये हैं—कुछ सरकार छीज-छाज, गलन-सड़न के लिये छूट देती है और कुछ तौल में भी कस लिया जाता है। कुछ लोग (यद्यपि बहुत नहीं) किन्हीं कारणवश राशन लेने में चूक भी जाते हैं। इस प्रकार कन-कन करके मन जुड़ जाता है। आटा तो चक्की वाले भी बहुत जमा कर लेते हैं, वे भी उसे मनमाने दाम बेचते हैं।

कपड़ा—यही हाल कपड़े का है। जहाँ कफन के लिये भी लाले पड़ते हैं और कभी-कभी लोग कुर्त्तों के लिये कफन का नाम लेकर कपड़ा खरीदते हैं और धोतियों के बजाय लोग घुटन्ने पहनने लग गये हैं वहाँ अमीर आदमियों के यहाँ थान के थान कटते रहते हैं। दर्जी अब भी बेकार नहीं हुए हैं। कपड़े में भी वही तरकीबें चलती हैं। कुछ तो उत्पादक भी इधर का उधर कर देते हैं। कुछ गरीब आदमी धनाभाव से कपड़ा ले भी नहीं पाते। कुछ फाइन की बजाय कोर्स लेते हैं। कुछ कपड़ा रियासतों से, जहाँ कोटा तो मिलता है लेकिन नियन्त्रण इतना कठोर नहीं है, छिपा-चोरी आ जाता है स्पेशल परमिट वाले भी कभी-कभी कुछ हेर-फेर कर लेते हैं। और कुछ गरीब आदमी अपने परमिट बेच भी देते हैं। किसानों का गल्ले के बदले का कपड़ा भी ब्लेक में जाता है।

शक्कर—संसार में मधुमेही लोगों के बढ़ जाने पर भी शक्कर का खर्च कम नहीं हुआ है। देवता लोग, स्वर्ग के और इस लोक के भी, बिना मिष्टान्न के तृप्त नहीं होते। ब्याह-शादी की दावत बिना मिठाई के फीकी रहती है या बिना दूल्हे की बरात बन जाती है। चाय शर्बत बिना गार्हस्थ-धर्म का आवश्यक अंग आतिथ्य-सत्कार पूरा नहीं होता। खाना नहीं तो क्या पीने से भी हाथ धो बैठें? शक्कर संग्रह के भी वे ही साधन हैं जो प्रायः गल्ला और कपड़े के। इनके अतिरिक्त हलवाई, शर्बत-मुरब्बे वाले भी अपने कोटे में से ब्लेक मार्केट कर लेते हैं। प्रभावशाली लोग खर्च से ज्यौढ़ा कोटा ले लेते हैं और कभी-कभी ब्लेक में शक्कर का बेचना शर्बत-मुरब्बे के काम से अधिक लाभदायक होता

है। जब सीधी शक्कर के बेचने से चाँदी बनती है तब शर्बत-मुरब्बे और मिठाइयाँ कौन बनाए ? रिशवत की बदौलत शक्कर का यातायात भी सुलभ हो जाता है। राजपूताने की एक रियासत के एक शहर में धनाढ्य मारवाड़ी अधिक रहते हैं। वहाँ पास की एक रियासत से शक्कर की छिपाचोरी आमदनी होती है। ऊँट पर शक्कर आती है। रास्ते में जब कोई परमिट माँगता है तो उसकी हैसियत के मुताबिक दो रुपये से लगाकर बीस रुपये के नोट परमिट के रूप में दिखाये नहीं वरन् दे दिये जाते हैं।

पेट्रोल—इसका सम्बन्ध लारी ट्रक वालों या सम्पन्न लोगों से है जो सैर-सपाटे या ब्याह बरातों के लिये पेट्रोल की तलाश में रहते हैं। इसके परमिट नहीं कूपन चलते हैं जो करीब-करीब नोटों के आकार के होते हैं और नोटों की ही भाँति प्रायः दो से पाँच रुपये तक में बिक जाते हैं। कूपनों की चोरी और उनका ब्लैक आदि-स्रोत से चलता है यानी छपते-छपते वे यारों का माल बन जाते हैं। इनकी गड्डी की गड्डियाँ छपती हैं और रेल के यातायात में भी इधर से उधर हो जाते हैं। खानापूरी और मुहर-छाप भी ले-देकर हो ही जाती है। जब वे गुन जाते हैं तब कहीं चोरी का पता चलता है। साँप निकल जाने पर लकीर पीटी जाती है। पहले तो उनकी छानबीन कम होती थी किन्तु जब से पेट्रोल का आग लगाने में दुरुपयोग होने लगा है तब से पूँछ-ताँछ होने लगी है। कूपनों के अतिरिक्त सरकारी विभागों और ठेकेदारों को पेट्रोल देने में कंजूसी नहीं होती। चक्रपाणि ड्राइवर लोग या तो बचत के कूपन सीधे ही बेच देते हैं या दूकानदार को दे देते हैं। दूकानदार फिर बिना कूपन वालों से जी खोल कर दाम लेता है। कुछ मोटरें टूट-फूट के कारण चलती भी नहीं हैं और पेट्रोल कम खर्च करती हैं। उन सब कारणों से बचत का पेट्रोल बेकारी के दिनों की घी-चुपड़ी रोटी तो दे ही देती है, दूध मलाई न दे सके तो दूसरी बात है।

कागज—यह सरस्वती देवी के उपासकों की वस्तु है किन्तु इसके व्यापारी लक्ष्मी देवी के लाड़ले पुत्र हैं। इसमें प्रायः कोटा के दुरुपयोग से ही ब्लैक होता है। जिन लोगों को प्रभाव

वश ज्यादा कोटा मिल जाता है या जो अपनी जरूरत से भी कम खर्च करते हैं वे ही व्यापारी के साथ मिलकर या सीधे तौर से ब्लेक कर लेते हैं। जिन लोगों के पास पहला स्टाक था उन्होंने तो ऊने के दूने किये ही किन्तु वह तो 'चार दिना की चाँदनी' थी। प्रभावशाली लोगों को चाँदनी रात नहीं तो बिजली की रोशनी का तो लाभ रहता ही है। लाहौर के एक पुस्तक प्रकाशक कहते थे कि बाबूजी आपकी पुस्तक छाप कर क्या करें? अगर हम बिना छापे सादा कागज ब्लेक में बेच दें तो उसमें ज्यादह फायदा है। आजकल छापने में लेबर तेज होने के कारण बड़ा खर्चा पड़ता है। बेचारा लेखक मारा जाता है। प्रकाशक के तो दोनों आम मीठे हैं।

लोहा, सीमेन्ट आदि—इन सबका ब्लेक परमिटों के दुरुपयोग से होता है, अथवा ईमानदार ग्राहकों को सौ बहाने बनाकर नाहीं कर बेईमान ग्राहकों की माँग पूरी करने से होता है। औषधियाँ, साबुन आदि का भी यही हाल है। वस्तुओं का मूल्य या तो सरकार से नियन्त्रित रहता है या कम्पनी से किन्तु इनकी खरीद के लिये परमिट नहीं होती। स्टॉक खतम हो जाने का तो मामूली बहाना है। कह दिया—भाई क्या करें, पार्सल आई नहीं कि हाथों हाथ बिक गई थी; महीनों पहले लोगों ने कह दिया था; हमको तो बेचना ही है। यदि रजिस्टर भरने की बात हुई तो रजिस्टर की खानापूरी फर्जी नामों से हो जाती है। कागज का पेट भर जाता है। फिर क्या रहा? ऐसी वस्तुओं की खरीद में जब तक दूकानदार को प्रायः यह विश्वास न दिला दें कि आप किसी प्रकार के इन्सपेक्टर तो नहीं हैं या खुफिया से तो कोई सम्बन्ध नहीं तब तक आपको पता न चलेगा कि वस्तु है या नहीं। इसलिये बीच के आदमी द्वारा बात करनी होती है।

उपाय—चोर बाजार से अमीर दूकानदारों को तो फायदा होता ही है, अमीर ग्राहकों की भी माँग पूरी होती है। किन्तु गरीब दूकानदार और ग्राहक मारे जाते हैं। इसका एक उपाय कन्ट्रोल का हटा देना बतलाया जाता है किन्तु आवश्यक वस्तुओं से कन्ट्रोल हटाना खतरे से खाली नहीं है। वस्तुओं

के दाम मनमाने बढ़ सकते हैं और सम्भव है कि वह वस्तु बाजार में आते-आते लोप हो जाय। किन्तु कन्ट्रोल के हट जाने से आयात बढ़ जायगा और विक्रेताओं के बढ़ जाने से वस्तु सस्ती भी हो सकती है किन्तु इसमें सहसा कदम उठाना ठीक नहीं। यह बात जरूरी है कि दूकानदारों की संख्या जितनी बढ़ाई जा सके उतनी बढ़ाई जाय जिससे किसी पदार्थ की बिक्री प्रभावशाली लोगों के विशेषाधिकार की वस्तु न रह जाय।

सरकार जितनी कड़ी निगाह परमिटों के जारी करने पर रखती है उतनी कड़ी निगाह उनके उपयोग पर भी रक्खे तो बहुत कुछ सुधार हो सकता है। रिशवत जितनी कम होगी उतना ही शीघ्र चोर बाजार का अन्त होगा। बिना अधिकारियों की दर-गुजर के चोर बाजार नहीं चल सकता। जो लोग अपने को देश के शुभचिन्तक समझते हैं उनका इस विषय में विशेष उत्तरदायित्व है। वे अपने प्रभाव को अपने लाभ के लिये काम में न लायँ वरन् गरीबों के लाभ के लिये। काँग्रेस के कार्यकर्त्ताओं को चाहिये कि वे वैश्य वृत्ति को छोड़कर ब्राह्मण वृत्ति धारण करें जिससे 'चिराग तले अँधेरा' कहने की नौबत न आय।

[*'व्यापार कानून'* (१९४७)]

मनुस्मृति में कर्ज का कानून

श्रुति-स्मृतियाँ—समाज की सुव्यवस्था के लिये प्रत्येक काल में राज्य की ओर से कुछ नियम रहे हैं। उनके ही अनुकूल राज्य का शासन किया जाता था। ऐसे ग्रन्थ जिनमें ये नियम दिये जाते थे स्मृति या धर्मशास्त्र कहलाते थे। वेदों को श्रुति कहते थे और धर्मशास्त्रों को स्मृतियाँ। स्मृतियाँ वेदों का ही अनुकरण करती थीं। महाकवि कालिदास ने वशिष्ठ की गाय नन्दिनी के पीछे जाते हुए महाराज दिलीप (श्री रामचन्द्र के पूर्वपुरुष) के सम्बन्ध में उपमा देते हुए कहा है कि वे गाय के पीछे ऐसे ही चलते थे जैसे कि श्रुतियों के पीछे स्मृतियाँ—'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्'। श्रुति और स्मृतियाँ और पुराण मिलकर ही धर्म का आधार बनते हैं। हिन्दुओं के यहाँ अट्ठारह स्मृतियाँ मानी गई हैं किन्तु उनमें मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य का विशेष मान है। मिताक्षर और दायभाग, जिनके अनुकूल विरासत का हक निश्चित किया जाता है, याज्ञवल्क्य स्मृति की ही टीकाएँ हैं।

दृष्टिकोण भेद—मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य में भी प्रायः राजकीय नियम ऐसे ही थे जैसे कि आजकल हैं। आजकल के कानून और स्मृतियों के नियमों में इतना ही अन्तर है कि स्मृतियाँ प्राचीन काल में लिखी गई थीं और उनका दृष्टिकोण धार्मिक था, उनमें सब काम वर्णव्यवस्था के अनुकूल था और लौकिक दण्ड के अतिरिक्त स्वर्ग-नर्क और पुनर्जन्म का भी उल्लेख होता था, किन्तु आजकल के कानून का दृष्टिकोण सर्वथा लौकिक है।

मनुस्मृति का न्यायाधीश—मनुस्मृति बहुत पुरानी है। उसका प्रचार सतयुग से था (कृतेतु मानवो धर्मस्त्रेतायां गौतमः स्मृतः)। उसके आठवें अध्याय में मुकद्दमे मामलों के सम्बन्ध में राजा के कर्तव्य बतलाये गये हैं। इन मुकद्दमे मामलों को मनुस्मृति में 'व्यवहार' कहा गया है। इनको तय करने के लिये राजा ब्राह्मणों और मन्त्रियों के साथ विनीत भाव से बैठा करता था। इससे मालूम होता है कि उस समय राजतन्त्र (Monarchy) होते हुए

भी राजा स्वेच्छाचारी नहीं होता था। ब्राह्मण इसलिये बैठते थे कि वे संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे और लोभ-मोह और वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं से परे होते थे। सबसे बड़ी बात यह है कि राजा उद्धत या मदोन्मत्त होकर नहीं वरन् विनीत भाव से बैठता था। (हमारे आजकल के कितने न्यायाधीश विनीत भाव से बैठते हैं ?) देखिये मनु: अध्याय ८ श्लोक १—

व्यवहारान् दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः।
मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत् सभाम् ॥

ये व्यवहार अट्ठारह तरह के माने गये हैं। उनमें कर्जे का पहला स्थान है (तेषामद्यमृणादानं)—धरोहर रखना, बिना स्वामित्व के अधिकार (Legal title) के किसी वस्तु का बेच देना, साझे का काम, दान की हुई वस्तु को लौटाना, नौकर की तनुख्वाह रोक रखना इत्यादि।

राजा की अनुपस्थिति में एक ब्रह्म-सभा भी बैठा करती थी जिसमें एक ब्राह्मण राजा का प्रतिनिधि होता था और तीन ब्राह्मण और उसके साथ बैठते थे। वे सब लोग धर्म के बन्धन में बँधे रहते थे। जिस सभा में अन्याय होता था उसमें पाप का एक चौथाई हिस्सा अन्याय करने वाले को (चोर आदि को), एक चौथाई हिस्सा झूठे गवाहों को, एक चौथाई हिस्सा मन्त्रियों और सलाहकारों को और शेष चौथाई हिस्सा राजा को लगता था। उस समय शूद्रों को न्याय करने का अधिकार नहीं होता था। वे पढ़े-लिखे भी नहीं होते थे। (आजकल ऐसा नहीं है, फिर भी अन्याय करने वाले और रिशवत लेनेवाले ब्राह्मण भी शूद्र मनोवृत्ति के समझे जाने चाहिये।) उस समय न्यायक्रम में भी वर्ण-व्यवस्था रहती थी। पहले ब्राह्मणों के मुकद्दमे लिये जाते थे, फिर क्षत्रियों के, फिर वैश्यों के और फिर सबके पीछे शूद्रों के। सम्भव है समाज में उन लोगों के महत्व और उपयोगिता के कारण ऐसा रक्खा गया हो।

ध्यान देने की बातें—न्यायाधीश-रूप से बैठे हुए राजा को सत्य की खोज करनी पड़ती थी। इसमें उसको धन अर्थात् दावे के न्यायोचित होने की बात; अपनी आत्मा (सदसद्विवेकबुद्धिः जिसको अँग्रेजी में Conscience कहते हैं), साक्षियों अर्थात् गवाहों की सत्यता आदि; देश अर्थात् ठहराव (Contract) कहाँ पर

हुआ है—जंगल में या चोरी-छिपके तो, जहाँ कोई गवाह ही न हो सके, नहीं हुआ है अथवा ऐसी जगह तो नहीं लिखा गया है जहाँ ऋणी कभी गया ही न हो; समय और कागज के रूप अर्थात वह कानून के अनुसार लिखा गया है, स्पष्ट है या नहीं आदि बातों का विचार करना पड़ता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ऐसे ठहराव जो चोरी-छिपके, जंगल में अथवा कमरे के भीतरी हिस्से में अथवा रात में लिखे गये हों, साधारणतया मान्य न थे।

नालिश करने पर धनी को अपना कर्ज साबित करना पड़ता था। वह करण (इसका शाब्दिक अर्थ है Instrument, यह Deed या दस्तावेज के अर्थ में प्रयुक्त होता था) तथा गवाही द्वारा साबित किया जाता था। इसमें वादी (मुद्दई) की स्थिति का भी ध्यान रक्खा जाता था अर्थात् यदि वादी उच्च कुल का और सत्यवादी हो तो उस बात का भी ख्याल किया जाता था। जहाँ गवाही न हो वहाँ कसम भी दिलाई जाती थी, शपथ दिलाने के प्रत्येक जाति के अलग-अलग तरीके थे। ब्राह्मण को सत्य की कसम दिलाई जाती थी; क्षत्रिय को वाहन (सवारी, हाथी-घोड़े आदि) और हथियारों की; वैश्य को गौ, बीज, स्वर्ण आदि की; शूद्र को सब पापों की शपथ दिलाई जाती थी। देखिये मनुः ८। ११२—

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं तु सर्वैस्तुपातकैः॥

अग्नि परीक्षा, पानी में गोता लगवाने, स्त्री-पुत्र आदि के सर पर हाथ रखवाने की भी प्रथा थी।

मनुस्मृति में झूठी गवाही देने के दुष्परिणाम भी बताये गये हैं, जिनके कारण धर्मभीरु गवाह झूठी गवाही देने से डरता होगा। गवाहों का जब विरोध हो तब राजा जिस पक्ष के ज्यादा गवाह हों उस पक्ष को माने। अगर बराबर हों तो गवाही और गवाहों के गुण पर अर्थात् उनके विश्वास योग्य होने की बात पर ध्यान दे और गुण भी बराबर हों तो ब्राह्मणों के वचन प्रमाण माने। गवाहों की संख्या पर ही निर्णय नहीं होता था। लोभ-रहित एक भी गवाह मान्य होता था। स्त्रियों की गवाही स्त्रियों के मामले में तो मान्य समझी जाती थी किन्तु वैसे नहीं। स्त्रियों को चञ्चल स्वभाव का माना गया है।

अमान्य करण—वे करण अर्थात् दस्तावेज स्वीकृति योग्य नहीं समझे जाते थे जिनको किसी शराबी, पागल, रोगी, सेवक, नाबालिग और वृद्ध ने लिखा हो। ऐसे कर्ज़े में यदि पिता, भाई आदि की सम्पुष्टि न हो तो वह मान्य न होता था, क्योंकि ऐसे लोग अपना भला-बुरा नहीं समझ सकते हैं और इन पर बेजा दबाव भी डाला जा सकता है। ठहराव (Contract) के कानून में ठहराव करने वाले की योग्यता पर बल दिया गया है। ऐसे लोग स्वतन्त्र रूप से कर्ज़ा लेने के योग्य समझे गये थे। धारा ११ में यह बतलाया गया है कि ठहराव करने वाला बालिग हो और स्वस्थ मन (sound mind) का हो। जो कर्ज़ा कि सत्य भी साबित हो जाय किन्तु दिया वह शास्त्र और व्यवहार के विरुद्ध हो तो ग्राह्य न माना जावेगा। इसीलिये जुए के लिये किये हुए कर्ज़े तथा जुर्माने के शेष के लिये लड़का उत्तरदायी नहीं माना जाता था। ठहराव के कानून (Contract Act) की धारा २३ में लोक नीति के विरुद्ध (immoral and opposed to public policy) ठहरावों को अमान्य कहा गया है। किन्तु जो धन कुटुम्ब की रक्षा के लिये लिया जाता था उसके लिये सारा कुटुम्ब जिम्मेवार होता था। इसी प्रकार गिरवी, क्रय-विक्रय आदि के व्यापार जिनमें छल हो वे मान्य नहीं होते थे और जिनमें बल का प्रयोग हुआ हो वे भी झूठे और अमान्य समझे जाते थे।

आजकल के कानून में भी जिन ठहरावों में धोका (fraud) या बल प्रयोग (coercion) होता है अथवा जो कानून के या लोक नीति के विरुद्ध होते हैं, मान्य नहीं होते। स्वतन्त्र रजामन्दी की व्याख्या करते हुए Contract Act की धारा १४ में लिखा है—

Consent is said to be free when it is not caused by (1) coercion, (2) undue influence, (3) fraud, (4) misrepresentation or mistake."

दावा मान्य न होने की अवस्थाएँ—यद्यपि प्राचीन समय का कानून महाजन के पक्ष में कुछ अधिक था फिर भी सब प्रकार के दावे नहीं स्वीकार किये जाते थे और महाजन को झूठे दावे पर दण्ड भी दिया जाता था।

जो वादी (मुद्दई) ऐसे देश में धन दिया बतावे जहाँ कि

उस समय कर्जदार का न होना साबित हो अथवा पहले एक देश बतलाकर पीछे से अस्वीकार करे, या बात को पूर्वापर संगत (शुरू से आखिर तक मेल खाती हुई) न कहे, अथवा बात में हेर-फेर करे—जैसे पहले कहे कि मुझसे लिया है; फिर कहे मेरे बाप से लिया था—अथवा बार-बार पूछे जाने पर भी अपनी बात की पुष्टि न कर सके अथवा एकान्त स्थान में गवाहों से बातचीत करता दिखाई दे, अथवा प्रश्नों को बचाना चाहे और इधर-उधर की असंगत (irrelevant) बातें करने लगे, अथवा अपनी बात को प्रमाणित न कर सके तो उसका दावा स्वीकार न किया जायगा। (मनुस्मृति अध्याय ८ श्लोक ५३-५७)

परिणाम—दावा झूठा होने का परिणाम केवल यही नहीं होता था कि प्रतिवादी (मुद्दायलह) को हर्जा दिलाया जाय वरन् यह कि जिस अंश में उसका दावा झूठा हो अर्थात् यदि ५००) रुपये का हो और ३००) साबित कर सका हो तो राजा वादी पर शेष २००) का दूना ४००) दण्ड के लगायेगा और इसी प्रकार प्रतिवादी के इन्कार किये हुए धन में से जितना साबित हो जावे उसका दूना दण्ड प्रतिवादी को देना पड़ता था। इस प्रकार दीवानी में फौजदारी भी शामिल हो जाती थी। देखिये मनुः अध्याय ८ श्लोक ५९—

यो यावन्निह्नुवीतार्थं मिथ्या यावति वा वदेत्।
तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद्द्विगुणं दमम्॥

कर्जा-वसूली—महाजन का धन साबित हो जाने पर कर्जा-वसूली में दया कम की जाती थी। उसके लिये धार्मिक उपायों के साथ व्यवहार; छल; लड़के, बच्चे, स्त्री, पशुओं को तंग करना और बल का प्रयोग भी मान्य समझा गया था।

धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च।
प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च॥
(मनुः अध्याय ८ श्लोक ४९)

लेकिन सब साधन व्यवहार में नहीं आते थे। कर्जे की किश्त और रुक्का बदलने आदि की भी प्रथा उन दिनों वर्तमान थी। धनी का काम करने से भी ऋण चुकाया जा सकता था। श्रेष्ठ जाति के ऋणी लोगों के लिये किश्त थी और शूद्रादिको

के लिये सेवा करके धन चुकाने की रिवाज थी। स्वजन लोग भी सेवा करके धन चुका सकते थे।

सूद की दर—सूद की दर भिन्न-भिन्न वर्ण के लोगों के लिये भिन्न-भिन्न थी। समाज में उपयोगिता तथा काम करने की शक्ति के आधार पर यह भेद किया गया था। ब्राह्मण से दो पण सैकड़ा, क्षत्रिय से तीन पण सैकड़ा, वैश्य से चार पण सैकड़ा और शूद्र से पाँच पण सैकड़ा ब्याज लेने की आज्ञा थी। कोई खुशी से कम ले तो दूसरी बात थी। शूद्रों की गरीबी पर शायद उस समय ध्यान नहीं दिया जाता था।

द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं शतं समम्।
मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः॥

(मनु: अध्याय ८ श्लोक १४२)

सूद साधारणतया सवा रुपया सैकड़ा (वशिष्ठ के मत से) और २) सैकड़ा तक लिया जा सकता था किन्तु मूल और ब्याज एक साथ लिये जाने पर ब्याज मूल की दूनी से ज्यादह कभी नहीं हो सकती थी। अगर जिनिस, गेहूँ, जौ, चावल, ऊन आदि, दिया जाय तो मूल से पाँच गुना तक लिया जा सकता था। गिरवी रक्खी वस्तु, मकान, खेत आदि का अगर धनी उपभोग करता था तो ऋणी उसके बदले में ब्याज से मुक्त हो जाता था। जिन वस्तुओं का स्वामी की राजी से उपभोग किया जाता था उन पर चिरकाल तक स्वामी का हक बना रहता था। भोग करने से अगर वस्तु खराब हो जाय तो उसका उत्तरदायित्व धनी पर रहता था। यदि वस्तु के मालिक के सामने कोई उसका उपभोग दस वर्ष तक करता रहे और मालिक उससे कुछ न कहे तो उस पर उपभोग करने वाले का अधिकार हो जाता था। इसको आजकल की कानूनी भाषा में Adverse Possession या कब्जा मुखालिफाना कहते हैं।

उपसंहार—पुराना कानून चाहे किन्हीं बातों में सख्त हो किन्तु हमको उस कानून को आजकल के कानून से मिलाना चाहिये। ऐसा करने पर हमको मालूम होगा कि वे लोग अपने समय के अन्य देशों से उदार थे।

['*व्यापार कानून*' (१६४७)]

मनोवैज्ञानिक

हीनता ग्रन्थि

स्वरूप-विवेचन—यह शब्द नवीन मनोविज्ञान की देन है। आजकल साहित्य और वार्तालाप दोनों में ही इसका प्रयोग प्रचुर मात्रा में होने लगा है। इस सिद्धान्त का नाम डाक्टर एडलर से सम्बद्ध है। उन्होंने करीब-करीब सबसे पहले इसका सविस्तार शास्त्रीय विवेचन कर मनुष्य के व्यक्तित्व की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की थी। उनका मूल सिद्धान्त यह है कि मनुष्य बालकपन से ही अपने में कुछ न्यूनताओं, हीनताओं वा कमजोरियों, जैसे शारीरिक दुर्बलता, दृष्टिदोष, विकलाङ्गता, पंगुता, कुरूपता, अकुलीनता, सामाजिक एवं पारिवारिक हीनत्व, अभीष्ट लाड़-प्यार के न मिलने आदि का अनुभव करता है और वह उनकी कमी को पूरा करने तथा दूसरों की और अपनी निगाह में अपने को श्रेष्ठ प्रमाणित करने के अर्थ सचेतन या अवचेतन रूप से प्रयास करता रहता है। इसी प्रयास की प्रवृत्ति उसके जीवन का लक्ष्य बनकर उसकी सारी क्रियाओं और भावनाओं को नियन्त्रित करती रहती है। वह अपने को श्रेष्ठ प्रमाणित करने के उद्योग में नाना प्रकार की कल्पनाएँ, जो कभी-कभी बहुत उच्छृङ्खल भी होती हैं, करने लगता है। वह अपने को देवोपम नहीं तो कम से कम एक ऐसा असाधारण वीर और उत्साही पुरुष समझने लगता है जिसकी महत्त्वाकाङ्क्षाएँ और अभिलाषाएँ समाज की असहृदयता के कारण पूर्णतया फलीभूत नहीं हो पातीं। इस सम्बन्ध में उसकी कल्पना बड़ी उर्वरा हो जाती है। ऐसे लोगों की स्वाभिमान की भावना छुईमुई से भी अधिक संवेदनशील और सुकुमार होती है। जरा सी बात में वे अपने को अपमानित समझने लगते हैं।

क्षति-पूर्ति—ये न्यूनताएँ कई प्रकार की होती हैं और उनकी क्षति-पूर्ति के भी अनेक साधन होते हैं। मनुष्य एक प्रकार की न्यूनता का दूसरी प्रकार की श्रेष्ठता से पल्ला बराबर कर लेता है—जैसे अन्धों में कल्पना-शक्ति बढ़ जाती है, वे प्रायः संगीतज्ञ हो जाते हैं और उनकी स्मरण-शक्ति भी असाधारणता प्राप्त कर लेती

है। मुसलमानों में प्राय: नेत्रहीन लोग ही हाफिजजी होते हैं। होमर, सूर, मिल्टन आदि इसी के उदाहरण हैं। संगीतज्ञ बिथोवियन भी अन्धा था। इंग्लिस्तान का कवि बाइरन लंगड़ा था, वह अपने लंगड़ेपन की हीनता को कुशल तैराक के रूप में पूरा कर लेता था। उसके लिये नाविकों का कहना था कि यह कवि होकर बिगड़ गया, नहीं तो बड़ा सुन्दर नाविक बनता। जायसी काना और कुरूप था। उसने अपनी कुरूपता का कविता में सगर्व उल्लेख किया है—

एक नयन कवि मुहम्मद गुनी। सोई बिमोहा जेहि कवि सुनी ॥
जग सूझा एकै नयनाहाँ। उआ सूक जस नखतन माहाँ ॥
कीन्ह समुद्र पानि जो खारा। तो अति भयउ असूझ अपारा ॥

इसमें प्राकृतिक क्षति-पूर्ति का सिद्धान्त निहित है। कबीर जुलाहे थे। उन्हें भी अपने जुलाहेपन की गर्वपूर्ण चेतना थी—'तू काशी का ब्राह्मण, मैं काशी का जुलाहा।' उन्होंने इस कमी की पूर्ति हिन्दू मुसलमानों को फटकार कर की है। 'इन दोउन राह न पाई।' उन्होंने तो अपने को सुर-मुनि सबसे बड़ा कहा है। भूषण को अपनी भाभी के उपालम्भ से कि 'नहीं तुमने गाड़ी भर नमक लाकर रख दिया है' हीनता-भाव की जागृति होकर अपनी प्रतिभा को प्रकाश में लाने की उत्तेजना मिली थी। उन्होंने शिवाजी के दरबार से पहली चीज जो भिजवाई थी वह कई (शायद अट्ठारह) गाड़ी नमक था। गोस्वामीजी की भक्ति-भावना के मूल में भी उनकी पत्नी का उपालम्भ काम करता हुआ दिखाई पड़ता है। यदि जनश्रुति ठीक है तो कालिदास की असाधारण प्रतिभा का कारण उनका हीनता-भाव ही है। विज्ञान के क्षेत्र में भी ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है। ग्रामोफोन, टेलीफोन आदि का आविष्कर्त्ता एडीसन बचपन में बहुत कमजोर था। लड़के उसको बहुत तंग किया करते थे। उसने अपनी भौतिक दुर्बलता की कमी को मस्तिष्क की सबलता से पूरा कर लिया। पौराणिक साहित्य में बालक ध्रुव का उपाख्यान इस हीनता-भाव का ज्वलन्त उदाहरण है। विमाता के उपालम्भ से वे भगवान् की भक्ति-द्वारा इन्द्र पद के अधिकारी बन गये और ध्रुव तारे के रूप में दृढ़ता के प्रतीक कहलाने लगे।

विभिन्न मार्ग—नित्य के पारिवारिक जीवन में हम देखते हैं कि जिन लड़कों को छोटे होने के कारण हुकूमत का अधिकार कम रहता है या किसी प्रकार से माता-पिता का लाड़-प्यार कम मिलता है, वे पढ़ने में तेज निकल जाते हैं। जब यह क्षति-पूर्ति का भाव समाज के साथ समझौता करते हुए उचित साधनों का अवलम्बन करता है तब तो वह व्यक्ति को निर्दोष रूप से उच्च पद पर प्रतिष्ठित कर देता है। इस प्रकार का हीनता-भाव स्वस्थ कहा जा सकता है। किन्तु मनुष्य जब सस्ते साधनों को काम में लाता है अथवा जल्दबाजी करता है तब वह भावना अस्वस्थ रूप धारण कर मनुष्य में शारीरिक और मानसिक विकार उत्पन्न कर देती है।

सस्ते साधनों में जो अधिक प्रचलित है वह यह है कि अपनी कमजोरी को लोगों के सामने न आने दिया जाय अथवा उसको येनकेनप्रकारेण छिपाया जाय, जैसे काने आदमी अथवा विकृत नेत्र वाले रंगीन चश्मा लगाये रहते हैं।

झिझक—यह प्रवृत्ति झिझक का रूप धारण कर लेती है और साधारण लोग झिझक को ही हीनता की ग्रन्थि कहने लगते हैं। यह भी हीनता-भाव का एक रूप है क्योंकि इसमें मनुष्य अपना ऐब छिपाकर ही बड़ा बना रहना चाहता है, किन्तु यह ग्रन्थि का रूप तभी धारण कर लेता है जब व्यवहार कुछ असाधारण हो जाता है; नहीं तो भावना मात्र (Sense) ही रहता है। ऐसे लोग सभा-सोसाइटियों में नहीं आना चाहते हैं, बीमारी का सहज-सुलभ बहाना बना लेते हैं। अयोग्यता के उद्घाटन होने के भय से व्याख्यान देने के लिये अवकाश का अभाव या गला खराब होना बता देते हैं। कभी-कभी अपना ऐब छिपाने की अत्यधिक उत्सुकता चोर की दाढ़ी के तिनके की भाँति उनका भेद खोलने में सहायक होती है। 'नाच न जाने आँगन टेढ़ा' की बात भी हीनता-मनोवृत्ति की परिचायक होती है। किसी को अपनी गरीबी की झिझक होती है तो किसी को अपनी हीन सामाजिक स्थिति की और किसी को अपनी कुरूपता की। जायसी, कबीर आदि ऐसे पुरुष कम होते हैं जो अपनी झिझक पर विजय पाकर समाज को खुली चुनौती देने को तैयार हो जाते हैं।

सस्ते साधन—लोग अपनी विद्वत्ता और बुद्धि की कमी को सुन्दर अप-टू-डेट फैशन के कपड़ों से पूरा कर लेते हैं। एक अङ्गरेजी लेखक ने लिखा है कि बहुत से लोग यदि अपने मस्तिष्क से एक नया विचार नहीं निकाल सकते हैं तो अवसर पर अपने ट्रङ्क से एक नया सूट तो निकाल ही सकते हैं और उस पासपोर्ट के आधार पर ऊँची से ऊँची सोसाइटी में प्रवेश पा जाते हैं। कम प्रतिभाशील व्यक्ति प्रायः सुलेखक होते हैं। वे लोग बढ़िया ग्लेज्ड कागज, सुव्यक्त हाशिये, लाल स्याही के शीर्षकों और स्वच्छ लेखन-प्रणाली के बल पर साहित्यिकों की श्रेणी में पहुँच जाते हैं। उनके पास चश्मा, रेशमी कुर्त्ता, दुहरे-तिहरे फाउन्टेनपेन आदि साहित्यिकता के बाहरी उपकरण सर्वाङ्गपूर्णता के साथ वर्तमान रहते हैं। सुन्दर वेश-भूषा और बाह्य स्वच्छता कुरूपता को भी किसी अंश में ग्राह्य बना देती है और साथ ही गरीबी पर भी एक अभेद्यप्राय आवरण डाल देती है। ऐसे लोगों को यह लाभ अवश्य होता है कि वे अपने कपड़ों को स्वच्छ और सुव्यवस्थित रखने की कमखर्च-बालानशीनी कला सीख जाते हैं। अकुलीनता को छिपाने के लिये असाधारण धार्मिकता का आश्रय लेकर बहुत से लोग चन्दन-बन्दन, कंठी-माला, पीताम्बर या सनिया का परिधान, खड़ाउओं की खट-खट और कान की खूँटी पर अवलम्बमान अथवा कुर्त्ते के गल-वातायन से झाँकी देते हुए परम पवित्र यज्ञोपवीत आदि उच्चता के प्रमाणपत्रों का समय-कुसमय अयाचित एवं अवांछित प्रदर्शन करते रहते हैं। नैतिक हीनता को छिपाने के लिये कुलीन लोग भी अपनी धार्मिक चादर को कुछ गहरा रंग लेते हैं। धन और विद्या के अभाव की पूर्ति भी कभी-कभी कुलीनताजन्य छूआछूत के प्रदर्शन से की जाती है।

शान का प्रदर्शन—शान जतलाने के मूल में भी प्रायः हीनता-भाव रहता है। वे लोग अपनी कमजोरी के चारों ओर शेखी और डींग का एक ईषत् पारदर्शक परकोटा खड़ा कर लेते हैं किन्तु बहुत से लोग उसमें आतंक की बिजली लगाकर उसको दूसरों की आलोचना-दृष्टि के स्पर्श से सुरक्षित कर लेते हैं। आतंकवान व्यक्ति दूसरे को भयाक्रान्त अवश्य करता है किन्तु वह स्वयं भय का शिकार बना रहता है। उनके आलोचक गूँगे के गुड़ के

आस्वाद की भाँति नहीं वरन् कुनीन के आस्वाद की भाँति कटुता का अभिव्यक्तिशून्य अनुभव किया करते हैं।

खुशामद—हीनता-भाव वाले व्यक्ति प्रायः खुशामद-पसन्द भी होते हैं क्योंकि खुशामदी लोग उनको आत्मश्लाघा के दोष से बचा देते हैं और उनकी महत्ता की स्थापना और आत्मभाव की वृद्धि में सहायक होते हैं। आत्मभाव को आघात पहुँचाने के कारण आलोचक असह्य हो जाते हैं। जिनके पास धन-वैभव नहीं होता और फलतः जो लोग चाटुकार भृङ्गों के कलगुञ्जन से वंचित रहते हैं उन बेचारों को अपने ढोल आप ही पीटने पड़ते हैं। जो लोग कुछ करके दिखा देते हैं उनकी शेखी भी दुधारु गाय की लात की भाँति सह्य हो जाती है किन्तु ढपोरशंखों की बड़ी मट्टी पलीत होती है।

खट्टे अंगूर—हीनता को छिपाने के लिये कुछ लोग अपनी हीनता को नगण्य समझते हैं। यह साधन बहुत बुरा नहीं है किन्तु वह उन्नति की दिशा की ओर अग्रसर करने वाले मार्ग को अवरुद्ध कर देता है। खट्टे अंगूर की कहानी की निराश लोमड़ी की भाँति वे कहते हैं, 'फर्स्ट डिवीजन में पास कर लेने से क्या होता है भाई, नौकरी के लिये व्यावहारिक ज्ञान चाहिये, सलीका और हाकिमों से रसूक (पहुँच) चाहिये। पढ़ने में शरीर घुला देने से क्या लाभ ?' यदि विद्या हुई किन्तु वेश-भूषा और कपड़े-लत्ते में सिलबिल्लापन रहा तो वे कहने लगते हैं, 'भाई, ऊपरी टीप-टाप से क्या ? गूदड़ी में भी लाल नहीं छिपते हैं।' जिनके पास भौतिक बल का अभाव होता है वे शारीरिक बल को पशुबल कहकर उसका तिरस्कार करते हुए कहते हैं, 'भाई, आध्यात्मिक बल के आगे भौतिक बल पानी भरता है। महात्मा गाँधी को ही देख लो, डेढ़ पसली के आदमी थे मगर सारी दुनिया को अँगुली पर नचाये फिरते थे।' यदि कोई काले अक्षर को भैंस समझने वाले सिंहजी हुए तो गर्व से कहते हैं कि 'पढ़े-लिखे हुए तो क्या लाभ ? एक तमाचा मार दो तो आँखों के सामने अँधेरा छा जाय। ग्लूकोज, फ्रूट साल्ट और इंजेक्शन के बल पर जिन्दा रहना जीते जी मौत है।' यदि आलसी हुए तो कहने लगे कि 'भाई, मैं ऐसा बेवकूफ नहीं हूँ जो बेकार अपने खून को सुखा

डालूँ। भूखे भजन न होइ गुपाला।' ऐसे लोग तुरन्त ही साम्यवाद की दुहाई देने लग जाते हैं और अपने को सामाजिक विषमताओं का शिकार बतलाने में जरा सा भी संकोच नहीं करते, अपने दोष को छिपाने के लिये दूसरों पर दोषारोपण करना उनके बायें हाथ का खेल है। वे सहृदयता के बीज बोये बिना ही सहानुभूति की फसल लहलहाती देखना चाहते हैं। यदि उसके दर्शन नहीं होते तो झल्ला उठते हैं। दूसरों को नीचा दिखाने और बेईमान कहने में वे अपनी बहादुरी और ईमानदारी की चरम इतिकर्तव्यता समझते हैं। यदि कोई देश-सेवक हुए तो लेखकों की हँसी उड़ाने लगते हैं—'बड़े-बड़े पोथे लिखने से क्या लाभ? अभिव्यञ्जनावाद और साधारणीकरण से देश का कल्याण नहीं होता है।' मुझ जैसे लोग जो जीवन में व्यवस्था नहीं ला सकते वे उपदेश देने लगते हैं कि 'भाई, नियम मनुष्य के लिये हैं, मनुष्य नियमों के लिये नहीं है।' जिसका जीवन नियमों की लोहशृङ्खला में बँधा रहता है उसके लिये कहा जा सकता है—'वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम्' वह मनुष्य नहीं है, मशीन है।

नकटा समुदाय—हीनता की क्षति-पूर्ति का एक सस्ता साधन यह भी है कि हीनता को ही महत्ता समझा जाय। बहुत से लोग नकटा सम्प्रदाय के नायक की भाँति, जिसकी नाक कट जाने पर उसने लोगों में यह प्रचार किया था कि नाक कटने पर ईश्वर दिखाई पड़ता है, अपने दोषों का गुणों के रूप में प्रचार करते हैं। शुद्ध न लिखने वाले लोग प्रायः व्याकरण की अवहेलना को ही हिन्दी की उन्नति के लिये आवश्यक बतलाते हैं। 'भाषा को व्याकरण की बेड़ियों से जकड़ देने में उसकी गतिशीलता मारी जाती है।' गोश्त अण्डे खाने वाले मांसाहारी होने में ही भारत के त्राण का एकमात्र उपाय बतलाते हैं, और साहित्य में भी उसका प्रचार करते हैं। कोई सादा जीवन व्यतीत करने की आड़ में सिलबिल्लेपन का पोषण करते हैं तो कोई अपनी आवारगी के समर्थन में स्वातंत्र्य-भाव की दुहाई देते हैं। वे रूढ़िवाद के गढ़ तोड़ने के लिये मध्यकालीन योद्धाओं की भाँति सदा उद्योगशील रहते हैं।

रोग और विकृतियाँ—अपने को उपेक्षित समझने वाले लोग

(विशेषकर देवियाँ) दूसरों की सहानुभूति के केन्द्र बनने के लिये बीमारी का बहाना ही नहीं करते वरन् वास्तव में बीमार पड़ जाते हैं। उनकी इच्छा वास्तविकता में परिणित हो जाती है। एक साहब अपनी पत्नी के साथ कलह से बचने के लिये बीमार पड़ गये थे। उन्नति के अभिलाषी लोगों को उन्नति-मार्ग में बाधा पड़ने पर भी कभी-कभी बड़ी मानसिक विकृतियाँ हो जाती हैं। अमीर लोग प्रायः मन्दाग्नि के शिकार रहते हैं, असली बात यह है कि ये मन्दाग्नि के ही कारण अमीर बन जाते हैं। मन्दाग्नि के कारण उनका स्नेह भोजन से हटकर उसके प्राप्त करने वाले साधन में केन्द्रित हो जाता है। एडलर ने तो बहुत से लोगों में दमे की बीमारी को भी हीनता-भाव के कारण कहा है। उन्नतिपथ में मानसिक दौड़ की शारीरिक प्रतिक्रिया हाँफने या दमे का रूप ले लेती है। यह सिद्धान्त का अतिशयतापूर्ण समर्थन प्रतीत होता है, किन्तु बहुत सी मानसिक विकृतियों के मूल में हीनता-भाव अवश्य रहता है।

हीनता-भाव वाला दूसरों के प्रति सदा शंकित रहता है। उसके कल्पित दुःख बढ़ जाते हैं और वह कभी भी समाज के साथ समझौता नहीं कर सकता है। जो लोग उसकी महत्ता और आत्म-भाव के पोषण में सहायक नहीं हो सकते उनके प्रति असहिष्णु बन जाता है। जब दो हीनता-भाव के शिकार तेजस्वी लोग एक दूसरे से टकरा जाते हैं तब संघर्ष उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, वे एक दूसरे के तेज को सहन नहीं कर सकते हैं—'अधिक अँधेरो जग करैं मिलि मावस रवि चन्द।'

निदान और चिकित्सा—किसी रोग को दूर करने का सबसे अच्छा उपाय उसका निदान है। प्रायः लोग अपने हीनता-भाव को पहचान नहीं पाते; इतना ही नहीं, बतलाने पर भी स्वीकार नहीं करते। अधिकांश लोग अपने को पूर्ण समझा करते हैं। हीनता-भाव सहज में समझ में भी नहीं आ सकता। इसके लिये आत्मविश्लेषण की जरूरत है। समाज का दोष तो है ही किन्तु जो लोग उसके साथ समझौता नहीं कर सकते हैं उनको उसका कारण अपने में भी खोजना चाहिये। कहीं हीनता-भाव तो काम नहीं कर रहा है। कारण का जान लेना भी एक प्रकार का इलाज

है। रोग के कारण की तुच्छता का ज्ञान उस पर विजय लाभ करने का स्वाभाविक साधन है। यदि हीनता-भाव को मनुष्य समझने का साहस न कर सके तो उसकी क्षति-पूर्ति का वैध साधनों द्वारा समाज के साथ समझौता करता हुआ उद्योग करे। महत्वाकांक्षा अवश्य रक्खे किन्तु उसे उचित सीमा से बाहर न होने दे और साथ ही अपनी महत्ता के ढोल बजाकर दूसरों पर आक्रमण न करे, रघुवंशियों की भाँति फलोदय तक पूर्ण प्रयत्नशील रहे और दूसरों की आलोचना से दुखी न हो। प्रभुत्व-कामना और महत्वाकांक्षा उन्नति का मूल है, किन्तु उस पर नियन्त्रण रखने की आवश्यकता है। समाज-सेवक को प्रभुत्व-कामना के कीटाणु से हमेशा सचेत रहना चाहिये। जो लोग सेवा-भाव में प्रभुत्व-कामना को आश्रय देते हैं वे लोग सेवा के महत्व को घटाते हैं; फिर भी वे अकर्मण्य लोगों से अच्छे हैं।

मानवतापूर्ण कर्तव्य—समाज में दूसरों के हीनता-भाव को दूर करना एक महत्वपूर्ण पुण्य का काम है और विशालहृदयता और मानवता का परिचायक है। हीनता-भाव से प्रेरित उन्नति-पथगामी को सहयोग प्रदान करना प्रत्येक सहृदय का कर्तव्य है। दुधारु गाय की भाँति उसकी दो लात भी सह ली जायँ तो बुराई नहीं, लेकिन उसको मरखनी भी न बनने देने के लिये उस पर प्रेम का शासन वांछनीय है। झिझक वालों की हँसी उड़ाकर नहीं वरन् उनको प्रोत्साहन देकर, उनकी बड़ाई करके, हीनता दूर करना एक प्रकार की समाज-सेवा है।

प्रभुत्व-कामना एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। किन्तु वह प्रभुता सहृदयता, गुण, शील-शालीनता और योग्यता की होनी चाहिये; भय और आतंक की नहीं। प्रभुत्व-कामना की स्वाभाविकता स्वीकार करते हुए भी उसका नियन्त्रण आवश्यक है। इसका अन्तर्राष्ट्रीय रूप महाभयङ्कर हो जाता है, इसलिये श्रीमद्भागवत का यह वाक्य सदा स्मरण रखना चाहिये—

'प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफलः।'

['*मन की बातें*']

पूर्व-निर्णय

तर्क-शास्त्र के आचार्य हमको यह बतलाते हुए नहीं थकते हैं कि सब मनुष्य बौद्धिक प्राणी हैं, किन्तु प्रत्येक मनुष्य के जीवन में ऐसे अवसर आते हैं जब वह अपने बुद्धि-व्यापार को स्थगित कर अपनी बौद्धिकता का आभास मात्र देता है। प्रायः अधिकांश मनुष्यों के, जो अपने बौद्धिक प्राणी होने पर गर्व करते हैं, जीवन में ऐसे अवसर आते हैं जब वे किसी व्यक्ति या जाति या वर्ग के सम्बन्ध में बिना विचारे हुए अपने पूर्व-निर्णयों के अनुसार काम करते हैं, अथवा अपने व्यक्तित्व या सामाजिक व्यापारों में अंध-विश्वासों से नियंत्रित होते हैं। वे उस समय अंध-विश्वासों को तर्क-सम्मत नहीं तो अनुभव से पुष्ट अवश्य मानते हैं। इन पूर्व-निर्णयों में अव्यक्त रूप से आत्म-श्रेष्ठता और दूसरे के प्रति घृणा का भाव रहता है। इसलिये हम उस व्यक्ति से स्वयं अलग रहकर अथवा उसे रखकर बचना ही नहीं चाहते, वरन् उसे समता के व्यवहार का अधिकारी भी नहीं समझते।

व्युत्पत्ति—अँग्रेजी में एक शब्द है 'प्रेज्यूडिस'। उसको हम कभी-कभी पूर्व-ग्राह भी कहते हैं, किन्तु पूर्व-निर्णय उसका ठीक शाब्दिक अर्थ हो जाता है। पहले रोमन लोगों में न्यायालय के निर्णय से पूर्व अभियुक्त की सामाजिक स्थिति की छानबीन की जाती थी। उस सामाजिक स्थिति के अनुकूल ही निर्णय दे दिया जाता था। इसी प्रथा से अंग्रेजी के 'प्रेज्यूडिस' शब्द का जन्म हुआ है। हमारे यहाँ भी ब्राह्मण अवध्य माना जाता था। यह उसकी सामाजिक स्थिति के अनुकूल ही निर्णय था।

महत्व—इन पूर्व-ग्राहों और पूर्व-निर्णयों का मानव-जीवन में विशेष महत्व है। बिरले ही मनुष्य ऐसे होंगे जो इन पूर्व-ग्राहों के माया-जाल से बचे होंगे। हमारे वैयक्तिक और राजनीतिक जीवन के बहुत से संघर्षों के मूल में यही पूर्व-निर्णय होते हैं। यह हमारे बुद्धि-व्यापार को स्थगित कर देते हैं। हम अपने पूर्व-निर्णय के प्रतिकूल कोई बात सुनना पसन्द नहीं करते हैं,

सुनते भी हैं तो हमें वह तर्कशून्य जँचती है। हम अपनी हठधर्मी पर डटे रहते हैं। हम दूसरे के साथ अन्याय करते हुए भी अपने को सर्वथा निर्दोष समझते हैं।

मोटे प्रकार—हमारे पूर्व-निर्णय कभी-कभी सीधे व्यक्ति के सम्बन्ध में होते हैं और कभी वे पूरी जाति या पूरे वर्ग के सम्बन्ध में होते हैं और उसी जाति या वर्ग के नाते व्यक्ति भी हमारे पूर्व-निर्णय का शिकार बनता है। कभी-कभी व्यक्ति के कारण जाति के सम्बन्ध में भी पूर्व-निर्णय बन जाते हैं। ये पूर्व-निर्णय व्यक्ति के पक्ष में होते हैं और विपक्ष में भी। प्रायः ये विपक्ष में ही होते हैं और तब ये द्वेष के निकट आ जाते हैं। जब पक्ष में होते हैं तब पक्षपात कहलाते हैं। पहले हम व्यक्ति से सम्बन्धित पूर्व-निर्णयों पर विचार करेंगे। जाति-सम्बन्धी पूर्व-निर्णयों की बात समझ लेने से जातीय भेद-भाव की बात भी समझ में आ जायेगी। हमारे पारस्परिक भेद-भाव किसी न किसी प्रकार के पूर्व-निर्णयों पर आधारित होते हैं।

व्यक्तिगत—हम किसी व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध में पहले से ही यह धारणा बना लेते हैं कि अमुक व्यक्ति अनिष्टकारी है, उससे हित होने की सम्भावना नहीं। ऐसे व्यक्ति अपनी जाति के भी हो सकते हैं और दूसरी जाति के भी।

अनिष्टकारी व्यक्ति और उसका परिवार—इस प्रकार की द्वेषपूर्ण धारणा के कई कारण होते हैं। यदि किसी व्यक्ति ने हमारा कभी अनिष्ट किया हो तो हम समझ लेते हैं कि वह हमारा हमेशा अनिष्ट करेगा। इतना ही नहीं, ऐसे मनुष्य के लड़के-बच्चों और कुटुम्बियों पर भी विश्वास नहीं रहता है। उदार लोग तो यह तर्क करते हैं कि मनुष्य मनुष्य ही है, कभी उसमें कमजोरी आ गई तो कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु मनुष्य का व्यवहार सदा एकसा नहीं रहता है। पूर्व-धारणा से ग्रसित लोग यह कह सकते हैं कि वह एक बार तो निश्चित रूप से चूक गया, अब क्या गारंटी है कि वह न चूकेगा, अथवा जिसकी सुई पर नीयत डिग गई वह सोने का लालच कब छोड़ेगा! घर के लोग भी एकसे नहीं होते। बाप-बेटे की प्रकृति में भी फरक होता है। उदार लोग यह सोचते हैं कि पिता यदि चोर है तो यह आवश्यक नहीं कि पुत्र

भी चोर हो। सम्भव है, पुत्र ने अच्छी शिक्षा पाई हो और अच्छे वातावरण में रहा हो। वंशानुगतता हमेशा ठीक नहीं होती है। कीचड़ से कमल उत्पन्न होता है। खारे समुद्र से अमृत और विष दोनों ही निकले थे। अनुदार लोग वंशानुगतता में अधिक विश्वास करते हैं। लोग प्रायः दोनों ही प्रकृति के होते हैं, कुछ उदार और कुछ शक्की। उदार लोग पूर्व-ग्राहों के कम शिकार बनते हैं और शक्की लोग कुछ अधिक मात्रा में इनसे प्रेरित रहते हैं।

मतभेद और इच्छाओं के अवरोध से—जो लोग ईमानदारी से भी हमारी इच्छा या मत के विरुद्ध जाते हैं, हम उनके विरुद्ध सहज में ही पूर्व-धारणाएँ बना लेते हैं। बात यह है कि प्रायः लोग अपने को ईमानदार और सही रास्ते पर समझते हैं। जो हमसे मतभेद प्रकट करता है, वह हमारे अहं-भाव को आघात पहुँचाता है। हम उसको मिथ्यावादी, प्रमादी और आडम्बरी समझने लगते हैं। अपने मार्ग से भिन्न मार्ग पर चलने वाले को पथभ्रष्ट समझना स्वाभाविक ही हो जाता है। उससे किसी अच्छी बात की आशा करना दुराशा मात्र हो जाती है। एक पक्ष का सारा व्यवहार दूसरे पक्ष के मतभेद से दूषित रूप से प्रभावित हो जाता है। ऐसे लोग अपनी अहंमन्यता में यह भूल जाते हैं कि ईमानदारी का भी मतभेद हो सकता है और किसी का अपने से मतभेद प्रकट करना अपनी अवमानता नहीं। मतभेद के भी कई कारण हो सकते हैं।

ईर्ष्या या बैर—कभी-कभी ईर्ष्या या बैर भी हमारे पूर्व-ग्राहों का कारण बन जाता है। प्रेम की भाँति बैर भी अन्धा होता है। प्रेम हमको प्रेम-पात्र के अवगुणों की ओर से अन्धा कर देता है और बैर गुणों की ओर से। यह आवश्यक नहीं कि जिससे हमारी ईर्ष्या हो या जिसके प्रति हमारा बैर हो, वह भी हमसे ईर्ष्या या बैर रखे, किन्तु हम ऐसे व्यक्ति की ईमानदारी में शक करने लग जाते हैं।

आकृति का आधार—बाह्य आकृति भी इस प्रकार के पूर्व-ग्राहों में थोड़ा-बहुत कारण या कारणाभास होती है। कुछ लोगों की आकृति में ही ऐसी क्रूरता या भयंकरता होती है कि उनकी

अनिष्टकारिता के सम्बन्ध में हमारी हठपूर्ण धारणा बन जाती है। आकृति के साथ वेश-भूषा भी लगी रहती है। आकृति के सम्बन्ध में एक प्रकार की सहज-बुद्धि भी काम करती मालूम होती है। व्यक्ति को हम देखते ही निर्णय कर लेते हैं कि यह अनिष्टकारी है और इससे हमारा काम न चलेगा। गुणों के सम्बन्ध में तो प्रसिद्ध ही है—'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' अर्थात् जहाँ सुन्दर आकृति होती है वहाँ गुणों का वास होता है। यह बात स्वयं ही संदिग्ध है। इसका उलटा है *'यत्रांगानां विकृतिस्तत्रावगुणाः वसन्ति।'* एकाक्षी लोगों को तो 'क्वचित् काणो भवेत् साधुः' के आधार पर शंका की दृष्टि से देखते हैं। बेचारे शुक्राचार्य तो यजमानहिताय अपनी विकृति करा बैठे (वामनावतार की छलपूर्ण याचना से बलि की रक्षा के लिये संकल्प के अर्थ जल डालने वाले टोंटीदार गड्डुए में बैठ गये थे कि संकल्प का जल ही न गिरे; यजमान ने टोंटी को साफ करने के लिये उसमें कुश डालकर गुरुदेव की आँख फोड़ दी) किन्तु उनके वर्ग के सब अभिशप्त से हो गये। बेचारे कानों को नौकरी कठिनाई से ही मिलती है। चतुर मन्थरा ने तो अपनी सफाई में पहले से ही कह दिया था। कि काने-खोटे-कूबरे लोगों को सब शंका की दृष्टि से देखते हैं।

जातिगत पूर्व-निर्णय—हमारे बहुत से पूर्व-निर्णय व्यक्ति से सम्बन्ध न रखकर एक प्रकार के वर्ग या जाति के लोगों से सम्बन्धित हैं। वे व्यक्ति के निजी नैतिक दोष के कारण नहीं होते, वरन् इसलिये कि वह अमुक जाति, वर्ग, रंग या आकार-प्रकार का होता है। इस प्रकार के पूर्व-निर्णय बँधे-बँधाए ढाँचों पर, जिनको अँग्रेजी में 'स्टीरियोटाइप' कहते हैं, निर्भर होते हैं। वहाँ पर व्यक्ति की अपेक्षा उस साँचे या ढाँचे को अधिक महत्व दिया जाता है। हब्शी जाति का मनुष्य 'निगर' पहले कहलायेगा, मिस्टर टामस जान्सन पीछे। मिस्टर टामस चाहे जितने धनवान् सुसंस्कृत हों, हमारे व्यवहार में उस ढाँचे का रूप पहले आ जायगा। ऊपरी व्यवहार चाहे जैसा हो, मन में तो एक खिंचाव पैदा हो ही जायगा। इटलीवाला एन्टोनियो मेजिनी पीछे कहलाता है, पहले वह 'डागो' नाम से अभिहित

होता है। इसी प्रकार लोग अँग्रेजों को जॉन बुल कहते हैं।

सामाजिक दूरी—ऊपर वर्णन किये गये खिंचाव को 'सोशेल डिस्टेंस' या सामाजिक दूरी कहते हैं। हम लोग किसी अंश में दूसरे धर्म या जाति के लोगों से घुल-मिल जाते हैं और बहुत अंश में उनके निकट आ जाते हैं, किन्तु जहाँ तक क्लबों, होटलों, गोष्ठियों, मजलिसों, सहभोजों, हँसी-मजाक, कहकहेबाजी तथा जातीय सभाओं का प्रश्न आता है वहाँ वयं वयं और यूयं यूयं, अर्थात् हम हम हैं और तुम तुम हो की भावना आ जाती है और सामाजिक दूरी प्रकाश में आने लगती है। यह सामाजिक दूरी गोरे, काले, ईसाई, यहूदी, हिन्दू, मुसलमान, अवर्ण-सवर्ण और सवर्ण में भी भिन्न-भिन्न वर्ण के लोगों में दिखाई पड़ती है। कभी-कभी भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोगों में भी इस दूरी का आभास मिलता है।

संवेदनशीलता मे भेद—इन पूर्व-निर्णयों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न देशवासियों की संवेदनशीलता पृथक्-पृथक् होती है। श्री किम्बालयंग ने अपनी 'ए हैंडबुक आव सोशेल साइकोलॉजी' में बतलाया है कि फ्रांस के इकत्तीस होटलों में पूछा गया कि क्या वे अश्वेत लोगों को अपने यहाँ रखना पसन्द करेंगे तो इकत्तीस में चौबीस का उत्तर स्वीकारात्मक था; इसके विपरीत इंग्लिस्तान के बीस होटलों में से केवल चार का स्वीकारात्मक रहा। भिन्न-भिन्न स्थितियों में भिन्न-भिन्न जाति के लोगों के सम्बन्ध में पसन्द का अनुपात अलग-अलग होता है। उसी पुस्तक में एक गणना-चक्र दिया गया है, जिसमें सत्रह सौ पचीस अमरीकियों के प्रश्नों के उत्तर के अनुपात पर यह बतलाया गया है कि जहाँ वे अँग्रेज जाति में सौ में चौरानवे से सम्बन्ध करने को तैयार हैं, वहाँ हिन्दुओं में सौ में से एक के साथ विवाह-सम्बन्ध करने को प्रस्तुत होंगे। इनके क्लब अँग्रेजों को सौ में से सत्तानवे को दाखिल करने योग्य समझते हैं तो हिन्दुओं में से सात को। ये हिन्दुओं में सौ में से इक्कीस को अपने साथ काम-काज में साझी बना सकते हैं।

पूर्व-निर्णयों के आधार—इस प्रकार के पूर्व-निर्णयों के आधार होते हैं—रंग, गंध, जाति, धर्म, वर्ग, राजनीतिक दल आदि;

यहूदी-ईसाई, यहूदी-अरब, अमरीकी-नीग्रो, पूँजीपति-मजदूर, जमीदार-किसान, अवर्ण-सवर्ण, इत्यादि। एक उदाहरण से मेरा कथन स्पष्ट हो जायगा। वर्टमबर्ग के किसी शहर की कौंसिल ने किसी यहूदी डाक्टर को उसकी योग्यता के कारण कुछ विशेष सुविधाएँ दे दीं। वहाँ के पादरीवर्ग ने नाराजगी प्रकट करते हुए कहा—'एक यहूदी के हाथ से बचने की अपेक्षा ईसामसीह के हाथ मरना अच्छा है।' हमारे यहाँ भी एक मसला है—'भंगी के झारे लड़का अच्छा होय उससे मरा भला।' किन्तु हमारे देश में स्वास्थ्य के सम्बन्ध में ऐसे पूर्व-निर्णय कम व्यवहार में आते हैं। गर्ज बावली होती है। फिर भी जाति, धर्म, रंग आदि के सम्बन्ध में ऐसे पूर्व-निर्णय बड़े ही सबल होते हैं।

रंग का आधार—रंग का आधार यूरोप और अमरीका में बहुत अधिक है। जहाँ उनको ईसाई धर्म विश्व-भ्रातृत्व का पाठ पढ़ाता है वहाँ रंग के आधार पर मनुष्य मनुष्य में भेद किया जाता है। यह भेद अमरीका के गोरों और नीग्रो लोगों में कुछ अधिक है। यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से उत्तरी अमरीका की अपेक्षा दक्षिणी में यह समस्या कुछ कठिन है, फिर भी उत्तरी अमरीका में भी रंग की रेखा पर्याप्त रूप से उग्र है। दक्षिण अफ्रीका में गोरे और हिन्दुस्तानी तथा अफ्रीका के मूल निवासियों का संघर्ष काफी उग्र है। रंग-भेद के आधार पर रेलों, होटलों, स्कूलों में पार्थक्य दिखाई देता है। महात्मा गांधी को भी इस रंग-भेद के खिलाफ संघर्ष करना पड़ा था। दक्षिण अफ्रीका में लिंचिंग अर्थात् ढेले मार-मारकर नीग्रो को मार देने की प्रथा अब भी अवशिष्ट है। इसमें प्रायः नीग्रो लोगों का गोरी स्त्रियों से अनुचित सम्बन्ध कारण बन जाता है। वास्तविक के अतिरिक्त काल्पनिक आशंकाएँ इन हत्याओं में साधक होती हैं। गोरी जाति के लोगों के लिये ऐसे अनुचित आक्रमणों के प्रतिकूल कोई दंड नहीं, क्योंकि जिसकी लाठी उसकी भैंस। शक्ति और कानून गोरों के हाथ में हैं। लिंचिंग एक प्रकार से शक्तिशालियों का इकतरफा युद्ध है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि गोरी स्त्रियों का कालों के प्रति अनुचित आकर्षण ही व्यापक बन: रंग-भेद का आधार बना है। इस कथन को परिमार्जित और संशोधित रूप में ही स्वीकार किया

जा सकता है। रंग-भेद के आर्थिक कारण भी हैं। अँग्रेजों के प्रभुत्व-काल में हिन्दुस्तानी लोग उनसे घुल-मिल तो गये थे, किन्तु ऊपर बतलाई हुई सामाजिक दूरी अवश्य रहती थी। ऐसे लोगों की दूसरी बात है जो कई बार विलायत हो आये हैं, शक्ति और प्रभावशाली हैं, रंग में साफ हैं, अनिन्दित, दोष-रहित अँग्रेजी शुद्ध उच्चारण के साथ बोलते हैं और देशी कपड़ों में भी छुरी-काँटे के व्यवहार में दक्षता दिखाते हैं, जैसे नेहरूजी। स्वतंत्रता के बाद से यह सामाजिक दूरी बहुत मात्रा में कम हो गई है।

गंध-भेद—यह भेद कुछ घृणा और पार्थक्य का कारण बन जाता है। हम जो कहानियों में मानस-गंध की बात सुनते हैं वह किसी अंश में ठीक है। इसका भेद दानवों और मनुष्यों में ही नहीं था, वरन् आजकल भी जाति-जाति के मनुष्यों में विशेषकर मांसाहारी और अमांसाहारियों में इसका अन्तर रहता है। महाभारत में मत्स्यगंधा का वृत्तांत पढ़ा ही होगा। पद्मिनी नायिकाओं की बात भी नितान्त कल्पित नहीं है। मांस खानेवाले तथाकथित उच्च गोरी जाति के लोगों की गंध से कई बार होटलों में भोजन परोसनेवाली अश्वेत परिचारिकाएँ बेहोश होते देखी गई हैं। ऐसे गंध-भेद में सामाजिक दूरी का रहना आश्चर्यजनक नहीं। किन्तु आधुनिक क्रीम, पाउडर आदि सभ्यता के उपकरणों से यह गंध-भेद बहुत कम हो गया है। पहले भी अंगराग लगाया जाता था। बहुत से उदार-वृत्ति, सेवा-परायण लोग इस गंध-भेद से विचलित नहीं होते हैं। बदन की सुगन्धि भी सदा भद्रता की निशानी नहीं होती है। परिचित गंध मेल और प्रेम का भी कारण बनती है, अपरिचित गंध द्वेष और पार्थक्य का।

धर्म-भेद—पूर्वनिर्णयों के कारणों में धर्म-भेद का प्रमुख स्थान है। हम अपनी धर्मान्धता में दूसरे धर्मवालों को कुछ-कुछ शंका और अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। यह नियम व्यापक नहीं है। उदार-चरित्र लोगों के लिये धर्म-भेद, जाति-भेद या रंग-भेद कोई अर्थ नहीं रखता; किन्तु अस्मदादिक इस धरती के साधारण पुरुषों में यह भेद-भाव समय के अनुकूल घटती-बढ़ती मात्रा में अवश्य रहता है। यूरोपीय देशों में यहूदी और ईसाई का धर्म-भेद और जाति-भेद भी रहा है। वैसे बाइबिल के पुराने अहदनामे में

यहूदी और ईसाई दोनों विश्वास करते हैं, किन्तु यहूदी लोगों ने ईसामसीह को खुदा का बेटा नहीं स्वीकार किया और उसको धोखेबाज और नकली कहकर सूली पर चढ़वाया। यहूदी लोग भी अपने को ईश्वर के चुने हुए विशिष्ट जन समझते हैं और अन्य लोगों को वे 'जेन्टाइल' के नाम से पुकारते हैं। यहूदी और ईसाई का झगड़ा हमको शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट आव वेनिस' में पढ़ने को मिलता है। मुसलमान लोग हजरत ईसा को मानते हैं केवल एक नबी के रूप में, किन्तु हजरत मुहम्मद साहब को वे आखिरी और सब नबियों में श्रेष्ठ नबी मानते हैं।

हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक वैमनस्य और अविश्वास का हम सबको दुःखद अनुभव है। पाकिस्तान उसका मूर्त्तिमान प्रमाण है। इसमें कौन अधिक दोषी है यह कहना पक्षपात होगा, किन्तु यह अखबारों से प्रकट है कि पाकिस्तान अपनी सभी आपत्तियों और कठिनाइयों का एकमात्र कारण हिन्दुस्तान की दूषित मनोवृत्ति और द्वेषपूर्ण प्रचार बतलाता है। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि महात्मा गांधी, हकीम अजमलखाँ, खान अब्दुल गफ्फारखाँ आदि ने तथा मध्यकाल में कबीर, जायसी, रहीम आदि ने इस भेद-भाव को मिटाने में सराहनीय कार्य किया था। कांग्रेस सरकार ने इस भेद-भाव को दूर करने में सहायता दी है। विश्वास विश्वास उत्पन्न करता है यह बहुत अंश में ठीक है। धर्म-भेद तो घातक विष है ही, किन्तु एक धर्म के भीतर सम्प्रदाय-भेद भी कुछ कम सिरदर्द नहीं है—शिया और सुन्नियों का, प्रोटेस्टेन्ट और रोमन कैथोलिकों का, शैवों और वैष्णवों का, आर्यसमाजियों और सनातन-धर्मियों का—यद्यपि राष्ट्रीयता और धर्म के प्रति अपेक्षाकृत उदासीनता ने इस भेद को बहुत अंश में कम कर दिया है। जैन और अजैन भी काफी घुल-मिल गये हैं। इसका पारस्परिक शादी-विवाह भी कारण है। शैवों-वैष्णवों का संघर्ष इतिहास की वस्तु हो गई। गोस्वामी तुलसीदास आदि महात्माओं ने इनके पारस्परिक विरोध को कम करने में स्मरणीय कार्य किया।

यह धर्म-भेद, जैसे हिन्दू-मुसलमानों का, रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्टों का, राष्ट्रीयता में बाधक होता है। कुछ कैथोलिकों

को यह भी शिकायत है कि संयुक्त राज्य का राष्ट्रपति प्रोटेस्टेन्ट ही क्यों हो? पिछली लड़ाई के समय रोमन कैथोलिक पादरी लोग शंका की दृष्टि से देखे जाते थे, क्योंकि उनके सम्बन्ध में यह समझा जाता था कि इनकी सहानुभूति इटली के साथ है। यहूदी-ईसाइयों का भी संघर्ष बहुत-कुछ राजनीतिक ही हो गया था।

वर्ण-भेद—जाति-भेद का ही लघु संस्करण वर्ण-भेद है। यह भारतवर्ष की विशेष देन है। इसमें देश को लाभ भी हुआ है और हानि भी। लाभ तो यह कि व्यापार और पेशे वंशगत हो गये और उनमें परम्परा द्वारा उत्तरोत्तर परिमार्जन के कारण दक्षता आ गई। इसके अतिरिक्त जाति या उपजाति के भीतर कौटुम्बिक समानता का भाव आ जाता है। जात्यभिमान ने धर्म परिवर्तन से भी बहुत अंशों में जनता को बचाये रखा। यह विभाजन पहले तो समाज में कार्य-विभाजन के लिये गुण-कर्मों के आधार पर बना था, फिर उसने रूढ़ होकर नितान्त पार्थक्यपूर्ण कबूतरखाने का रूप धारण कर लिया और भेद-प्रभेद इतने बढ़ गये कि ब्राह्मण वेशधारी मुसलमान को आश्चर्यचकित होकर कहना पड़ा था—'या अल्ला! गौड़ों में भी और!' जाति के पहले उपजाति को महत्ता दी जाती है, किन्तु व्यापक हितों और संकट के समय में उपजाति तो क्या एक धर्म के भीतर के सम्प्रदायों में भी मत-भेद थोड़ी-बहुत सामाजिक दूरी को स्थिर रखते हुए मिट जाता है।

पूर्व-निर्णय-सूचक कहावतें—यह आवश्यक नहीं है कि यह वर्ण-भेद विरुद्ध पूर्व-ग्राहों को उत्पन्न कर ही दे, किन्तु शंकाशील मनुष्यों में ये पूर्व-ग्राह जल्दी स्थान पा जाते हैं। 'जरायम पेशा' लोग, अन्त्यज और स्पृश्य नौकर-चाकर भी चोरी आदि के सम्बन्ध में शंका क्या निश्चित धारणा के विषय बन जाते हैं। यदि कोई नीच जाति का मनुष्य कोई अपराध कर बैठे तो उस अपराध का कारण उसकी जाति मानी जाती है न कि व्यापक मानवीय कमजोरियाँ। वे लोग भूल जाते हैं कि उससे बढ़कर पाप उच्च जाति वाले करते हैं। कुछ जातियाँ तो क्या प्राय: सभी जाति वाले एक-दूसरी जाति के लोगों के सम्बन्ध में किंवदन्तियाँ और कहावतें प्रसिद्ध कर रखते हैं जो उनके

सम्बन्ध में पूर्व-निर्णयों की परिचायक होती हैं। किसी जाति के लोगों को ऐसी कहावतें बुरी न लगें, इसलिये उनके देने का मोह संवरण करना पड़ेगा। केवल बनियों के सम्बन्ध की कहावत का उल्लेख कर दूँगा, क्योंकि मुझे स्वयं उस जाति में होने का गर्व है—'जिसका बनिया यार उसको दुश्मन क्या दरकार।' किन्तु औरों के विपरीत इसका अर्थ मैं इस प्रकार लगता हूँ—बनिये लोग इतने सौम्य और शान्तिशील होते हैं कि यदि कोई उनसे मित्रता करके उनकी नीति पर चले तो वह अजातशत्रु बन जाय। आचार्य शेखर ने कवियों के साथ बनियों को भी लपेटे में लेकर कह दिया—'क्वचित् वणिकजनोऽचोरः'। शायद उन्होंने दिव्य दृष्टि से ब्लैक मार्केट करने वालों को देख लिया हो। मैं कवि नहीं तो लेखक अवश्य हूँ, किन्तु कवि के नाते सुवर्ण की चोरी मैं भी करता हूँ। उसका आकार-प्रकार बदलने की कला में मैं दक्ष हो गया हूँ। संस्कृत वालों तथा हिन्दी वालों ने बेचारे नापितों को बदनाम कर रखा है। ऐसी कहावतें अनुचित सामान्यीकरण पर आधारित होती हैं। और जातियों के सम्बन्ध में भी ऐसी कहावतें और श्लोक हैं। कुछ ऋषियों के कारण, जैसे भृगु, दुर्वासा और परशुराम के कारण, ब्राह्मण क्रोध के अवतार कह दिये जाते हैं। कुछ पेशेवर भी बहुत बदनाम हो जाते हैं। पहले वे चोर समझे जाते हैं। पीछे वे भले आदमी प्रमाणित हो जायँ तो उनके पूर्व-जन्म के सुकृतों को सराहना चाहिये।

वर्गगत पूर्व-निर्णय—एक आर्थिक वर्ग दूसरे वर्ग के लोगों को शंका की दृष्टि से देखता है। जमींदार किसान को नादहन्द समझता है और किसान जमींदार को शोषक। इसी प्रकार पूँजीपति-मजदूर का मानसिक खिचाव रहता है। किरायेदार मकान-मालिकों के प्रति और लेखकगण प्रकाशकों के सम्बन्ध में शंकाशील रहते हैं। मालिक लोग प्रायः अपने नौकरों को आलसी, कामचोर और बेईमान समझते हैं। पूर्व-निवासी और विस्थापितों में भी कुछ-कुछ ऐसा ही संघर्ष रहता है और इस संघर्ष के मूल कारण होते हैं एक-दूसरे के सम्बन्ध में किये हुए पूर्व-निर्णय।

राजनीतिक दलगत पूर्व-निर्णय—एक राजनीतिक दल दूसरे राजनीतिक दल पर विश्वास नहीं करता है और दूसरे दल के उद्देश्यों और कार्यों को शंका की दृष्टि से देखता है। कांग्रेस वाले हिन्दू महासभा के प्रत्येक कार्य में साम्प्रदायिकता की गंध पाते हैं और हिन्दू महासभा के लोग कांग्रेस सरकार के कार्यों में हिन्दू-द्रोह ही नहीं, वरन राष्ट्र-द्रोह का आरोप करते हैं वे लोग देश में भुखमरी और बेकारी के लिये कांग्रेस सरकार की अदूरदर्शिता को उत्तरदायी ठहराते हैं। यह ठीक है कि कांग्रेस वाले दिव्य दृष्टि नहीं रखते, किन्तु इन बातों के प्राकृतिक कारण भी हो सकते हैं। उनके आलोक में दूसरे दल वाले सरकार के दोषों का किसी मात्रा में परिमार्जन नहीं करते। कांग्रेस सरकार देश के समस्त आन्दोलनों की जड़ में साम्यवादी प्रचार देखती है। साम्यवादी लोग सरकार को पूँजीपतियों के हाथ की कठपुतली घोषित करते हैं और सरकार के प्रत्येक कार्य को पूँजीपतिहिताय निर्धारित मानते हैं। ये ही पूर्व-निर्णय एक दल को दूसरे दल के निकट आने में बाधक होते हैं।

प्रश्न उठता है कि जातीय एवं रंग और धर्म सम्बन्धी पूर्व-निर्णय मनुष्य में सहज जन्मगत हैं अथवा अर्जित। अधिकांश मनोवैज्ञानिकों का यह मत है कि ये पूर्व-ग्राह जन्मजात नहीं हैं। एक जाति के बच्चे दूसरी जाति या दूसरे धर्म के बच्चों के साथ सुखपूर्वक खेलते हैं जब तक कि उनके माता-पिता या गुरुजन सांस्कृतिक या धार्मिक पक्ष लेकर कुछ मनगढ़न्त दूसरी जाति के लोगों के सम्बन्ध में बतलाकर उनका मन भयाक्रान्त या अन्य प्रकार से दूषित नहीं कर देते। नीग्रो जाति के नौकर गोरे बालकों को खिलाते हैं। भारतीय आयाएँ अँग्रेज बालकों को खिलाती थीं और अँग्रेज बालक उनसे घृणा करने के बजाय प्रेम करते थे। रंग और गंध का विकर्षण कुछ दिनों के सहवास से कम हो जाता है, यदि कोई दन्तकथाएँ बाधक न हों। बच्चे अपनी जाति और रंग वालों से भी कभी-कभी भयानक आकृति या वेशभूषा के कारण डर जाते हैं। रंग, गंध, वेशभूषा आदि के प्रति किसी अंश में स्वाभाविक विकर्षण हो सकता है, क्योंकि ऐसा विकर्षण जानवरों में भी देखा जाता है। इसमें घृणा का

भाव तो कम रहता है, किन्तु असाधारण से अपरिचयजन्य विकर्षण और खिंचाव का भाव रहता है। एकसे रंग और गंध किन्तु भिन्न धर्म वालों के प्रति कोई स्वाभाविक विकर्षण, घृणा या द्रोह का भाव नहीं रहता। बच्चे मुसलमान की दाढ़ी से चाहे विचलित हो जायँ, किन्तु वे किसी अपरिचित राजपूत की दाढ़ी से भी विकर्षित हो जायँगे। इसका कारण यह है कि माताएँ जो 'हौवा' व देव-दानवों की कथाओं के संस्कार बालकों के कोमल मस्तिष्क पर अंकित कर देती हैं, उनके आलोक में वे विचित्र आकृति या वेशभूषा वाले लोगों का उनसे तादात्म्य कर लेते हैं।

घृणा की आधारभूत कुछ दन्तकथाएँ—ये दन्तकथाएँ अधिकांश में तो कल्पना-प्रसूत होती हैं और कुछ आंशिक सत्य पर आधारित। अँग्रेज लोग हिन्दुस्तानियों से वर्ण-भेद के कारण तो घृणा करते ही थे, किन्तु कभी-कभी तो ऐसा भी कहते सुने जाते थे कि हिन्दुस्तानी लोग साबुन से अथवा टब में नहीं नहाते। वास्तविक बात यह है कि हिन्दुस्तानी लोग अँग्रेज की भाँति टब में नहाना घृणित कार्य समझते हैं। अँग्रेजों में कुछ ऐसी भी प्रचलित दन्तकथाएँ थीं, खासकर विलायत और अमरीका में, कि हिन्दुस्तान साँपों से भरा है। एक मेरे परिचित अँग्रेज युवक लेखक ने मुझे अपने गले में लटका हुआ ताबीज सा दिखाया था जिसमें चाकू का एक छोटा सा फला था और थोड़ा परमेंगनेट पोटाश। यह उसकी माँ ने हिन्दुस्तान आने से पूर्व उसे दिया था जिससे ताबीज की डोरी साँप काटने पर कसकर बंद लगाने के काम आ जाय और चाकू के फल से वह नश्तर लगाकर पुटाश भर ले। वह प्रायः आठ, मास हिन्दुस्तान में ठहरा, पर उसे उसके व्यवहार का अवसर नहीं मिला। कुछ अँग्रेज हिन्दुस्तान को धोखेबाजों और झूठों का देश समझते थे और कुछ रस्सी ऊपर फेंक कर उस पर चढ़ जाने वाले जादूगरों का देश। कुछ अमरीकी प्रचारक भोले-भाले धार्मिक अमरीकियों के मन में यह धारणा उत्पन्न कर देते थे कि भारत अर्द्धनग्न भिखमंगों, अशिक्षितों और अन्धविश्वासी लोगों का देश है जो अपने बच्चों और बूढ़े लोगों को जीवित गंगाजी में डुबो देते हैं।

ऐसे भ्रामक प्रचार से चाहे उन्नता-भाव-प्रेरित करुणा बढ़ती थी, किन्तु वह समता-भाव की सामाजिकता में बाधक होती थी। इससे बढ़कर उनको भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में ज्ञान न था। मेरे एक भारतीय थियोसोफिस्ट मित्र कहते थे कि एक आस्ट्रेलियन युवती उनसे हिन्दुस्तान में कहती थी—'भाई, आप लोग बड़े सभ्य और शिष्टभाषी हैं। मैंने तो अपने देश में सुन रखा था कि हिन्दुस्तानी लोग बड़े रक्त-पिपासु होते हैं, उनके बीच में होशियारी से रहना।' सम्भव है, इन दन्तकथाओं में भी एकांगीपन हो किन्तु ऐसी बातें कुछ मनुष्यों से सुनी अवश्य गई हैं।

गोरे अमरीकियों और हब्शियों या रेड-इंडियनों में अथवा दक्षिणी अफ्रीकी और एशियाई लोगों में जो पार्थक्य की नीति चल रही है, उसके मूल में गोरों की श्रेष्ठता और कालों की हीनता के अतिरिक्त यह आर्थिक और राजनीतिक भय भी है कि कहीं ये लोग राजनीतिक समानता का अधिकार पाकर परिश्रमशीलता के कारण गोरों को वहाँ से हटा न दें। गोरों की साम्राज्यलिप्सा 'श्वेत जातियों के नैतिक भार' (व्हाइटमैन्स बर्डन) का रूप धारण कर लेती है। वे समझने लगते हैं कि उनका जन्म कालों के उद्धार और उन्हें नैतिक शिक्षा देने के लिये हुआ है। यह भी एक प्रकार की दन्तकथा है। हिटलर दुनियाँ को अपने शासन में लाकर उसका उद्धार करना चाहता था और उसे यहूदियों से विशेष द्रोह था। विश्व-विख्यात वैज्ञानिक आइन्स्टीन को जर्मनी छोड़नी पड़ी थी। यहूदियों के सम्बन्ध में यूरोपवालों को यह अन्धविश्वास सा था कि इन लोगों के पास धनवान् होने के कारण बैंक की तालियाँ हैं, और ये ही लोग विश्व में लड़ाइयाँ कराते हैं।

युद्ध के समय में जातियों के विरुद्ध लोकमत बनाने के लिये बहुत कुछ प्रचार (प्रोपेगैंडा) का सहारा लिया जाता है। पिछले युद्ध में ब्रिटिश सरकार ने जापानियों के विरुद्ध बहुत प्रोपेगैंडा किया था। उनको नृशंस और क्रूर रूप में दिखाया गया था। ऐसी ही प्रचारात्मक दन्तकथाएँ पूर्व-निर्णय करने में सहायक होती हैं।

पूर्व-निर्णयों के मानसिक कारण—पूर्व-निर्णयों का प्रथम कारण

यह है कि जात्यभिमान, धर्मान्धता तथा स्वार्थ-परायणता के कारण प्रायः लोग विपक्ष की बातों को नहीं देखते और थोड़ी देर के लिये अपनी बौद्धिकता को तिलांजलि दे देते हैं। दूसरा कारण दूषित सामान्यीकरण का है। यदि किसी एक जाति के आदमी ने चोरी की तो सारी जाति बदनाम ठहराई जाती है। तीसरा कारण यह है कि दूध का जला छाछ को फूँक-फूँककर पीता है। एक बार किसी से धोखा खाया तो सदा के लिये सचेत हो जाना पड़ता है। आत्मश्रेष्ठता और आत्महीनता दोनों भाव अनुचित आशंका के कारण बनते हैं। हम अपनी श्रेष्ठता की भावना से दूसरों की नैतिक हीनता की सहज में कल्पना कर लेते हैं और हीनता-भाव भी आश्रय की श्रेष्ठता दिखाने के लिये दूसरे में कोई न कोई न्यूनता देखने को प्रवृत्त कर देता है। अन्तिम महत्व का कारण है अनुचित आत्मरक्षा का भाव। कहीं जाति के आर्थिक हितों पर आक्रमण दिखाई पड़ता है, जैसे दक्षिणी अफ्रीका के गोरों को, और कहीं धर्म खतरे में दिखाई देता है। प्रचलित दन्तकथाएँ, जिनका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, इन पूर्व-निर्णयों को स्थिर रखने और बल देने में सहायक होती हैं। कुछ धर्मों में धार्मिक सहिष्णुता अधिक होती है और कुछ में कम। जहाँ धार्मिक सहिष्णुता कम होती है वहाँ ये पूर्व-निर्णय अधिक पनपते हैं।

पूर्वग्राहों के कम करने के उपाय—पूर्वग्राहों का पूर्णतया निराकरण कर देना बिरले ही वीतरागों का काम है, किन्तु उनके प्रभाव में कमी लाई जा सकती है। कुछ लोग अन्तर्जातीय विवाहादि द्वारा इन पूर्वग्राहों को कम करने की सलाह देते हैं, किन्तु इसके सम्बन्ध में प्राणिशास्त्रियों में मतभेद है। शिक्षा-प्रचार और स्वस्थ प्रतिद्वन्द्विता द्वारा इन पूर्वग्राहों का बहुत कुछ शमन हो सकता है। नीचे लिखे साधन सुविधापूर्वक काम में लाये जा सकते हैं :—

(१) भ्रातृभाव का प्रचार और दूषित दन्तकथाओं के खण्डन करने का प्रयत्न।

(२) जो व्यक्ति या जातियाँ या वर्ग पूर्वग्राहों के विषय बनते हैं, उनके गुणों को तलाश कर प्रकाश में लाना। एतदर्थ विपरीत

उदाहरण खोजे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति गोडसे के कारण सारी महाराष्ट्र जाति से रुष्ट हो जाय तो उसे लोकमान्य तिलक, महात्मा गोखले, जस्टिस रानाडे, डाक्टर भंडारकर, वामन शिवराम आप्टे प्रभृति महानुभावों के चरित सुनाये जायँ। मुसलमानों के प्रति द्वेष कम करने के लिये हकीम अजमलखाँ, डाक्टर अन्सारी, तैयबजी, खान अब्दुल गफ्फारखाँ प्रभृति उदार और आत्मत्यागी व्यक्तियों के उदाहरण दिये जायँ। महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सर जगदीशचन्द्र वसु, सर चन्द्रशेखर रमण, पं० जवाहरलाल नेहरू, श्रीमती सरोजनी नायडू, श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित आदि की विद्वत्ता और व्यक्तित्व ने विदेश में हिन्दुस्तानियों के विरुद्ध यूरोप वालों के पूर्व-निर्णयों में अन्तर उत्पन्न किया। अच्छे गुण हर व्यक्ति में और अच्छे व्यक्ति हर जाति में मिल सकते हैं। उन उदाहरणों पर बल दिया जाना आवश्यक है। नीची जातियों के प्रति घृणा कम करने के लिये शबरी, निषाद, केवट, रैदास आदि के उदाहरण दिये जा सकते हैं। तथाकथित नीच जाति के लोगों से शिक्षा लेने के सम्बन्ध में 'परो अपावन ठौर में कंचन तजै न कोय' वाला दोहा उद्धृत किया जा सकता है।

(३) छोटे सामाजिक वृत्तों की अपेक्षा व्यापकतर और विस्तृत सामाजिक वृत्तों को प्रोत्साहन दिया जाय। उपजातीय संस्थाओं की अपेक्षा जातीय, और जातीय की अपेक्षा राष्ट्रीय और उससे भी बढ़कर अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को पोषण दिया जाय। वर्ण-सम्बन्धी विषमताओं को दूर करने में धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सेवा सम्बन्धी व्यापक और सम्मिलित हित के आन्दोलनों ने बहुत कुछ योग दिया है। कांग्रेस, आर्य समाज, हिन्दू महासभा, कीर्तन-मण्डल, सेवा-समितियां आदि ने जाति-पाँति की कटुता को कम करने में सराहनीय योग दिया है। क्रिकेट आदि ने हिन्दू-मुसलमानों के भेदभाव को कम किया है और साहित्यिक संस्थाओं ने अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता को बढ़ाया है।

(४) जो जातियाँ उपेक्षित, घृणित या पूर्वग्राहों के विषय बनती हैं, उनकी ओर से भी उदारता, सहयोग और अद्वेष की

नीति अपेक्षित है। महात्मा गांधी ने बोअर युद्ध में घायलों की सेवा करने के लिये एक दल बनाकर गोरों की सहायता की थी। 'अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्' की नीति को बरतना श्रेयस्कर होता है। युद्ध का मार्ग तो अन्तिम उपाय है।

(५) उच्च जाति के लोगों को चाहिये कि तथाकथित नीच जाति का पक्ष लें, जिससे स्वयं उन लोगों को अपनी वकालत न करनी पड़े, न विरोध के पथ का अनुसरण करना पड़े। ये उपाय कुछ इस प्रकार के हैं—

(क) सबको शिक्षा-लाभ कराने का प्रबन्ध करना और उनमें जो विशेष योग्य होने की सम्भावना रखते हों उनका आदर करना और उनको उचित प्रोत्साहन देना।

(ख) उनको समान आर्थिक सुविधाएँ दिलाना और उनकी उन्नति में प्रसन्न होना।

(ग) उनको सब प्रकार की संस्थाओं में प्रवेश कराना और उच्च राजनीतिक पद दिलवाना।

(घ) उन लोगों के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करना। उनके लिये अच्छे मकानों, स्वच्छ गलियों और स्वास्थ्यप्रद स्थिति उपलब्ध करना या कराना।

(६) हर प्रकार की पार्थक्य की प्रवृत्तियों का विरोध करना, स्वयं पार्थक्य की नीति से बचना और दूसरों में इस प्रवृत्ति को रोकना। ऐसी बातों को भी रोकना जो दूसरे पक्ष के लोगों को पार्थक्य की ओर ले जायँ। यह पार्थक्य ही पूर्वग्राहों का पोषण करता है। हिन्दुओं से हरिजनों के पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र बनाने के विरुद्ध महात्मा गांधी ने आगाखाँ महल में ऐतिहासिक अनशन किया था। यदि उनका पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र हो जाता तो अवर्ण-सवर्ण के बीच की खाई और भी गहरी हो जाती।

(७) मानवतावादी साहित्य का प्रचार। मनुष्य का मनुष्य के नाते आदर करना। किसी को अपराधी या दोषी न समझना जब तक कि वह ऐसा प्रमाणित न हो जाय। हमेशा उदार दृष्टि-कोण रखने और आत्मत्याग की भावना उत्पन्न करने वाले विचारों का प्रसारण करना। इसमें रेडियो, फिल्म, प्रेस और प्लेटफार्म, लोकमत बनाने के सभी साधनों का उपयोग करना।

(८) जो जातियाँ विरुद्ध पूर्वग्राहों का शिकार बनती हैं उनको आपस के भेद-भाव और पारस्परिक विरुद्ध पूर्वग्राहों को छोड़ देना या कम कर देना आवश्यक है। पारस्परिक वैमनस्य एक तो सम्मिलित मोरचा लेने में बाधक होता है और दूसरी बात यह है कि विरोधी पक्ष को यह कहने का अवसर मिलता है कि 'जब तुम लोग आपस में ही भेदभाव रखते हो तो हम लोग क्यों न भेदभाव रखें; जिस आधार पर तुम भेदभाव रखते हो उसी आधार पर हम भी ऊँच-नीच का अन्तर करते हैं।' इसीलिये महात्मा गांधी ने अँग्रेजों और हिन्दुस्तानियों में भेदभाव दूर कराने से पूर्व स्वयं हिन्दुस्तानियों में जो छूत और अछूत का अन्तर था उसको मिटाने का जी-जान से प्रयत्न किया। यह उनकी न्यायप्रियता का द्योतक था। वे इस बात को पूर्णतया मानते थे कि—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

[*'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'* (१ व ८ अगस्त १९५४)]

डुकरिया पुराण

(हमारे लोक-विश्वास)

यद्यपि अठारह पुराणों की प्रशस्त नामावली में डुकरिया पुराण का नाम खोजना अनुसन्धानकर्ता के प्रयास को विफल कर देगा तथापि भगवान् अनङ्ग देव की भाँति मसि कागद के कलुप से अछूते उसके वायवी अस्तित्व को प्रत्येक विचारशील मनुष्य स्वीकार करेगा। आजकल के पश्चिमी बुद्धिवाद का प्रखर तेज वाला शिव नेत्र भी उसे नितान्त भस्म करने में असमर्थ रहा है। वह भगवान् विष्णु की भाँति अपने को अच्युत कह सकता है।

धर्मशास्त्र हमारे जीवन को शासित करे या न करे किन्तु डुकरिया पुराण अपने अलिखित रूप में हमारे जीवन को प्रभावित करता रहता है। अन्य कर्मकाण्डी शास्त्रों की यदि मान्यता बची हुई है तो इसी के बल पर। आपाद-मस्तक पश्चिमी सभ्यता में सराबोर सूट-बूट धारी भारतीय छींक के होते ही खतरे की घंटी की भाँति उससे ठिठक सा जाता है और कभी-कभी यदि उसमें प्राचीन संस्कार जोर मार जाते हैं तो वह विघ्नेश्वर के पाद-पंकजों का स्मरण करते हुए मन ही मन 'वक्रतुण्ड महाकाय कोटि सूर्य समप्रभः' कह अपनी यात्रा को मङ्गलमय बनाता है। बिल्ली के रास्ता काटते ही हमारी यात्रा का उत्साह भङ्ग हो जाता है, चाहे हम अपने बुद्धिवाद का गर्व बनाये रखने के लिये घर न लौटें। मैंने कुछ महानुभावों को बिल्ली के रास्ता काटने को बचाने के लिये उससे कुछ आगे दौड़ने का प्रयत्न करते देखा है। हथेली खुजलाते ही रुपये आने की प्रतीक्षा होने लगती है, चाहे पीछे हाथ ही क्यों न मलना पड़े।

भारतीय अन्धविश्वासों की खिल्ली उड़ाने वाले और घोर बुद्धिवाद की दुहाई देने वाले अँग्रेज और अन्य यूरोप निवासी खाने की मेज पर तेरह आदमियों की संख्या होते ही चौदहवें की खोज करने लग जाते हैं। वे अवांछित मनुष्य का भी स्वागत करने को प्रस्तुत हो जाते हैं। कोई यात्री होटल के तेरह नम्बर

के कमरे में ठहरना तो क्या असबाब रखना भी पसन्द नहीं करता। बेचारे होटल वाले भी एक कमरे के अस्तित्व को व्यर्थता के दुर्भाग्य से बचाने के अर्थ १२ ए के नाम से अभिहित करने लगते हैं। मेज पर यदि नमक फैल जाय तो वे उसको अशुभ समझ कर गिराने वाले की अवांछनीयता को लक्ष्य करके एक दूसरे की ओर झाँकने लगते हैं। उसका परिहार कन्धे के ऊपर पीछे को नमक फेंकने से किया जाता है। बुद्धिवाद की दृष्टि से तो और अधिक मात्रा में नमक फेंकना मूर्खता की पराकाष्ठा है किन्तु ये लोक-विश्वास, जो अँग्रेजी में Superstitions हैं, बुद्धि के ऊपर (super) खड़े होते हैं। यही Superstitions का शाब्दिक अर्थ है।

छुकरिया पुराण के इस अमिट अधिकार का क्या रहस्य है? रहस्य तो अवश्य है क्योंकि बिना कारण के कोई वस्तु अस्तित्व में नहीं आती किन्तु बुद्धिवाद के कण को मन भर तो सहज बना लिया जाता है और फिर परम्परा का बल और प्राचीनता की स्वर्णिम आभा प्राप्त कर वह तिल का ताड़ और राई का पर्वत अवश्य बन जाता है। और कहीं आर्थिक हानि या जीवन की आशङ्का का संकेत मात्र भी हो गया तो हमारी आत्मरक्षा की सहज वृत्ति हमारे कार्यों में ब्रेक लगाने लगती है। अन्य कारणों का उल्लेख करने से पूर्व हम इन्हीं बातों की व्याख्या कर देना चाहते हैं।

छींक की बाधा बड़ी व्यापक और पुरानी है। बङ्गला में छींक को हाँची कहते हैं। यह शब्द भी अनुकृति मूलक है। इस सम्बन्ध में एक कहावत है, "हाँची टिकटिकी बाधा जे न माने से गाधा।" छींक के सम्बन्ध में मैंने किसी मनोविज्ञान की पुस्तक में पढ़ा था कि वह शरीर से श्वास निकलने का प्रतीक है। इसलिये अशुभ मानते हैं। उसकी अशुभता निवारण के लिये लोग प्रभू का स्मरण करते हुए कहते हैं 'छत्रपती! घटै पाप, बढ़ै रती!'

तेरह की संख्या अपने यहाँ अशुभ तो मानी ही जाती है क्योंकि तेरह का सम्बन्ध मृतक की तेरहवीं से है। अपने यहाँ तीन की संख्या विषमता की प्रतीक होने के कारण अशुभ मानी जाती है। शिवजी का तीसरा नेत्र भी प्रलयङ्कर है। तीन

रोटियाँ या पूड़ियाँ एक साथ नहीं परसी जातीं। तीन रोटियाँ यदि परसनी हों तो एक के दो टुकड़े कर दिये जाते हैं। सम संख्या में विशेषकर चार की संख्या में पूर्णता, एकसापन और सन्तुलन का भाव आ जाता है। वैसे पाँच और सात पवित्र माने जाते हैं। कहीं कहीं तीन भी पवित्र माना जाता है, जैसे आचमन तीन ही बार किया जाता है।

अँग्रेजों में तेरह की संख्या अनिष्टकारिणी इसलिये मानी जाती है कि प्रभू ईसामसीह सूली लगने के पूर्व अपने बारह शिष्यों के साथ एक मेज पर खाना खाने बैठे थे। वे तो पकड़ ही लिये गये थे और निर्दोष होते हुए भी सूली पर चढ़ा दिये गये थे किन्तु जिस शिष्य ने उनको पकड़वाया था उसने भी ग्लानिवश आत्महत्या कर ली थी—दुहरा खून! फिर आदमी क्यों न शङ्कित हो? अँग्रेजों में लकड़ी छू लेना शुभ और अनिष्ट-निवारक समझा जाता है क्योंकि प्रभू ईसामसीह की सूली लकड़ी की थी। नमक का गिरना शायद इस कारण अशुभ माना जाता है कि नमक वहाँ जीवन के रस या आनन्द का प्रतीक समझा जाता है। अपने यहाँ भी नमक को रामरस कहते हैं। नमक के बिना सब चीज फीकी पड़ जाती है। उसका गिरना जीवन के रस के नष्ट होने का चिह्न माना जाता है।

अपने यहाँ भी पञ्चकों में मरना अशुभ माना जाता है। इसमें किसी का कोई वश नहीं, और यात्राएँ तो सायत देखकर की जा सकती हैं किन्तु परलोक की यात्रा सायत देखकर नहीं की जाती। भीष्म पितामह की दूसरी बात है कि वे सूर्यदेव के उत्तरायण होने तक शरीर धारण किये रहे। पञ्चकों में मरने के सम्बन्ध में यह विश्वास है कि यदि कोई इन नक्षत्रों में मरे तो घर में पाँच आदमियों के मरने की और सम्भावना रहती है। इसके परिहार के लिये कुशों के पाँच पुतले बनाकर रख दिये जाते हैं किन्तु कभी-कभी इससे भी अनिष्ट का शमन नहीं होता है। मैं इस विश्वास को दृढ़ नहीं करना चाहता हूँ किन्तु जब मेरे ज्येष्ठ पुत्र की बहू का स्वर्गवास पञ्चकों में हुआ था तो इन सब शास्त्रीय और अशास्त्रीय परिहारों के कर देने पर भी उसकी लड़की और एक गाय के बछड़े और वृद्धा सत्तर वर्ष की बूआ तथा एक कोई अन्य सहित

पाँच व्यक्ति नहीं रहे थे। इस विश्वास में कुछ तो नाम का प्रभाव होता है। पञ्चक में पाँच की संख्या आती है। नामों पर बहुत से अन्ध-विश्वास अवलम्बित होते हैं। मोतीझले में अनबिंधे मोती खिलाये जाते हैं। ये तो शायद हजम भी नहीं होते हैं। (मोती की भस्म तो शायद केल्शियम प्रधान होने के कारण लाभदायक होती हो।) आँखों के रोहुओं के लिये बच्चों के गले में रोहू के दाँत डाले जाते हैं। इसके अतिरिक्त और भी प्रवृत्तियाँ जो लोक-विश्वासों में काम करती हैं, उनमें से कुछ का विवरण यहाँ दिया जाता है।

(१) दूषित सामान्यीकरण की प्रवृत्ति—जैसे बिल्ली के रास्ता काटने में दो एक बार अनिष्ट हुआ हो, उसको एक सामान्य नियम बना लिया गया। ऐसे उदाहरणों पर हमारा ध्यान कम जाता है जब बिल्ली के रास्ता काटने पर भी कोई अनिष्ट न हुआ हो। प्रभू ईसामसीह के बारह शिष्यों के साथ भोजन करने का एक ऐतिहासिक उदाहरण है। उसका सामान्यीकरण कर उसे व्यापक बना लिया गया है और तेरह की संख्या ही अशुभ मान ली गई है। बहुत से ईसाई लोग शुक्रवार को नया काम आरम्भ नहीं करते। शुक्रवार को ईसामसीह की मृत्यु हुई थी। गांधीजी की भी मृत्यु शुक्रवार को ही हुई थी। मैं एक महानुभाव को जानता था, जो किसी नये आदमी से शुक्रवार को नहीं मिलते थे। शनिवार तो शायद इसलिये अशुभ माना जाता है कि उसकी गति मन्द होती है। वह साढ़े सात वर्ष में सूर्य का चक्कर लगा पाता है। उसका रंग भी काला होता है। मनुष्य जीवन में सामान्यीकरण का विशेष महत्व है। सारे वैज्ञानिक नियम ही सामान्यीकरण पर निर्भर होते हैं और वह सामान्यीकरण सब उदाहरणों की गणना पर नहीं होता। गणना मात्र का सामान्यीकरण निरर्थक और बाल-चापल्य माना जाता है किन्तु वैज्ञानिक सामान्यीकरण विश्लेषण और प्रयोग पर निर्भर होता है। एक बार भगवान् कृष्ण को चौथ का चन्द्रमा देखने के कारण स्यमन्तक मणि की चोरी का मिथ्या कलङ्क लगा था। इसकी कथा इस प्रकार है—एक बार ब्रह्माजी ने गणेश चतुर्थी का व्रत रखा था। चन्द्रमा ब्रह्माजी की चतुर्मुखी विकृत आकृति पर हँसा था। ब्रह्माजी का कोपभाजन

बनकर उसको शाप लगा था कि जो कोई चन्द्रमा को देखे वह कलङ्की हो किन्तु बहुत अनुनय विनय करने पर वह शाप गणेश चतुर्थी के लिये सीमित हो गया था। गोस्वामी तुलसीदासजी ने इसका उल्लेख किया है 'तौ पर नारि लिलार गुसाईं। तजिय चौथ चन्दा की नाईं।' श्रीमद्भागवत (१०।५६) में स्यमन्तक मणि की चोरी की कथा है। एक कारण यह भी सम्भव हो सकता है कि चौथा चन्द्रमा अनिष्टकर होता है, इसलिये चौथ का चन्द्रमा भी अनिष्टकर समझा जाने लगा। इसके दोष के परिहार के लिये लोग दूसरों के घर में पत्थर फेंककर गालियों का आह्वान करते हैं। भगवान् कृष्ण ने तो अपना कलङ्क पुरुषार्थ द्वारा मिटाया और उनको उसका फल भी अच्छा मिला। मैं तो स्वयं जान-बूझकर चौथ के चन्द्रमा के दर्शन कर लेता हूँ। झूठा कलङ्क लगने से मैं सच्चे कलङ्क लगने से बचा रहूँगा। मैंने बहुत से धर्म-ढोंगी भ्रष्टाचरण वाले पुरुषों को गणेश चौथ के दिन सायंकाल से कमरे में बन्द होते देखा है। मैंने उनमें से एक से कहा, 'भाई, ऐसे आप निष्कलङ्क नहीं जो झूठे कलंक से भयभीत हों।' कलङ्क की चर्चा होने से तो पाप घटता है। बौद्धों और रोमन कैथोलिकों में तो अपने अपराधों की आत्म-स्वीकृति का एक पर्व होता है।

(२) नाम का सम्बन्ध—नाम के सम्बन्ध में हम रोहू मछली के दाँतों का उदाहरण दे चुके हैं। स्त्रियों में जो बुध की यात्रा का निषेध रहता है उसका कोई शास्त्रीय आधार नहीं है। यदि है तो बुध के साथ बिछोह के अनुप्रास का है। इसका परिहार भी बुद्ध-शुद्ध कहकर अनुप्रास के आधार पर कर लिया जाता है। नाम और नामी के सम्बन्ध के ही आधार पर रात में साँप का नाम नहीं लेते। प्रायः लोग उसे 'कीड़ा' कहते हैं। बङ्गला में 'लता' कहते हैं। ऐसा विश्वास है कि जहाँ साँपों की चर्चा होती है वहाँ साँप रहते हैं। इसी विश्वास का सहारा लेकर गुप्तजी ने साकेत में श्री रामचन्द्रजी से कहलाया है—

चर्चा भी अच्छी नहीं बुरों की मानो।
साँपों की बातें जहाँ वहीं वे जानो॥

(साकेत, पृष्ठ १६८)

नाम के आधार पर ही नीलकण्ठ का दर्शन शुभ माना

जाता है। विष-पान करने से शिवजी नीलकण्ठ कहलाये। शायद इसी वर्ण-साम्य के कारण नीलकण्ठ का दर्शन शुभ माना जाता है। चावलों को अक्षत कहते हैं। अक्षत शब्द शुभ है। अक्षतों का प्रयोग प्रत्येक शुभ कार्य में होता है। आम्र की भी पवित्रता उसके लाल होने के कारण मानी जाती है।

(३) अशुभ अवसरों पर होने वाले कार्यों को करना—जो काम मृत्यु, शवदाह आदि के समय किये जाते हैं उनको साधारण अवसरों पर इसलिये नहीं करते कि वे अमङ्गल सूचक हैं और कहीं अमङ्गल के अनुगामी के स्थान में उसके अग्रगामी न बन जायँ। जिन लोगों के पिता जीवित होते हैं वे सिर पर सफेद कपड़ा नहीं बाँधते हैं और न सिर और मूँछें मुड़ाते हैं। ये कार्य पिता की मृत्यु पर ही होते हैं। अब मूँछें मुड़ाना नित्य का कर्म हो गया है और अब उनकी शान-बान और ऐंठ-अकड़ भी जाती रही। अब वे पहले तो तितली बनीं और पीछे से उड़ गईं। अब तो वे न ऊँची और न नीची। शायद इसी कारण कोरा कपड़ा भी नहीं पहना जाता है। किन्तु इसका एक वैज्ञानिक कारण भी है। कपड़े के बिना धुले बजाज और दर्जी की दूकान की गन्दगी नहीं जाती। यह नियम ऊनी कपड़े के साथ नहीं है। कनागतों में पितृपक्ष से सम्बन्ध होने के कारण विवाह शादियों और किसी अन्य शुभ कार्य की जैसे गृहप्रवेशादि की बात नहीं चलती। कनागत का शुद्ध शब्द है कन्यागत अर्थात् सूर्य जब कन्याराशि में आता है तब कनागत लगता है। हमारे यहाँ मुहर्रमी के लिये कन्याराशी शब्द है। कनागतों में हजामत नहीं बनवाते हैं और न कपड़े बदलते हैं। यह शायद ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये हो। सधवा स्त्रियाँ हाथ की चूड़ी और पैर के बिछवे नहीं उतारतीं और सिन्दूर बिन्दु की भी रक्षा करती हैं क्योंकि इनका अभाव वैधव्य का सूचक है। चूड़ियाँ चाहे बन्धन की द्योतक हों किन्तु यह प्रणय-बन्धन बड़ा मधुर और स्पृहणीय समझा जाता है। मेहमान के आगमन पर पहले दिन उसे उड़द की दाल नहीं खिलाते क्योंकि शोक के दिन पहले उड़द की दाल ही खाई जाती है। मेहमान या प्रियजन के जाते ही तुरन्त घर में झाड़ू नहीं दी जाती है क्योंकि प्रायः मृतक के उठ जाने पर घर की सफाई होती है। इसके अतिरिक्त एक कारण

यह भी है कि हम अपने मन में इस व्यञ्जना को स्थान नहीं देना चाहते हैं कि उनके रहने से घर गंदा था और उनके जाते ही घर की सफाई की आवश्यकता है।

साधारण बोल-चाल में अशुभ व्यञ्जना वाले शब्द को बचाया जाता है। दूकान बन्द करने के स्थान में उसे बढ़ाना कहते हैं। दीपक कुल के दीपक पुत्र का द्योतक है। इसलिये उसको बुझाना नहीं कहते हैं, उसको भी बढ़ाया जाता है। चूड़ियाँ भी सौभाग्य सूचक होने के कारण उतारी नहीं जातीं, बढ़ाई जाती हैं। अमङ्गल का नाम अमङ्गलकारी होता है।

(४) शुभ अवसरों पर होने वाले कार्यों के विपरीत न करना—जैसे जिस रोज कढ़ाही चढ़ती है उस रोज तवा नहीं चढ़ता। जन्म दिवस, होली, दिवाली, दशहरा आदि पर्व दिवसों पर चाहे दाल-चावल बन जाय, रोटी नहीं बनती। हिन्दू धर्म इतनी आवश्यकतानुकूलता रखता है कि यदि पर्व दिन को रोटी बनाना ही हो तो कढ़ाही में बना लेते हैं। आवश्यकता भी पूर्ण हो जाती है और लकीर की फकीरी का भी निर्वाह हो जाता है। सधवा स्त्रियाँ पर्व दिवसों पर सादी धोती नहीं पहनती हैं। त्यौहार के दिन लकड़ी भी नहीं खरीदी जाती, शायद इसलिये कि उनका अन्तिम संस्कार में काम पड़ता है।

(५) देखने में अशोभन या असुन्दर वस्तु या बात बचाई जाती है—जैसे जूते पर जूता रखा होना। जूता जोड़े में ही शोभा देता है। उलटी झाड़ू या चारपाई रखना अच्छा नहीं लगता। सन्ध्या समय का खाना दीपक जलने पर ही खाना। प्रकाश का भोजन के साथ कोई वैज्ञानिक सम्बन्ध हो सकता है। प्रकाश का वस्तुओं की वृद्धि और पोषण पर असर पड़ता है। इसीलिये ग्रहण के समय खाना-पीना वर्जित हो जाता है। लोक-विश्वासों के पीछे उनको दृढ़ता देने के लिये दन्तकथाएँ भी प्रचलित हो जाती हैं। शाम को पढ़ना भी वर्जित है। शायद इसलिये कि उससे नेत्रों की ज्योति को हानि पहुँचती है। रात में अदवाइन नहीं लगाते। कारण तो यह होता है कि इससे लड़कियाँ अधिक होती हैं। किन्तु रात को अदवाइन लगाना आग लगे पर कुआ खोदने का प्रतीक है और पुरुषार्थहीनता का

द्योतक है। जो काम करणीय है उसको अन्त समय तक न टालना चाहिये। रात में फाँस लगने का भी भय रहता है।

(६) प्रतीक—बहुत सी बातों का महत्व प्रतीकात्मक होता है; जैसे, भरे घड़े शुभ माने जाते हैं। वे पूर्णता और समृद्धि के प्रतीक होते हैं। इसीलिये शुभ अवसरों पर कलश की स्थापना होती है। दूर्वा भी वृद्धि का प्रतीक होने के कारण मङ्गल की सूचक होती है। इसके लिये कहा जाता है, 'काण्डे काण्डे अरोहति।' भगवान् की श्यामता की भी उससे उपमा दी जाती है—दूर्वादल श्याम। पुत्र-जन्म की सूचना प्रायः दूब भेज कर ही दी जाती है। यात्रा के समय दधि और मिष्टान्न खाते हैं, खटाई नहीं, इसलिये कि शायद खट्टा खाने का मुहावरा सार्थक न हो जाय।

शकुन और अपशकुन—ये भी डुकरिया पुराण के प्रमुख अङ्ग हैं। शुभ शकुन एक नया उत्साह पैदा कर देते हैं। कुछ वस्तुएँ जैसे गाय और बछड़ा विशेष कर दूध पीता हुआ बछड़ा शकुन माना जाता है। गाय अपने यहाँ पवित्र मानी गयी है और समृद्धि का भी प्रतीक है। भरा घड़ा भी पूर्णता और सफलता का प्रतीक है। स्त्रियाँ कौवे के उड़ जाने को मेहमान के आने का शकुन मानती हैं। प्रोषित पतिकाओं में काक का विशेष मान है। एक प्रोषित पतिका कहती है:—

पैंजनी गढ़ाइ चोंच सोने में मढ़ाइ देहौं,
कर पर लाइ पर रुचि सों सुधारिहौं
× × ×
एरे कारे काग तेरे सगुन संजोग आज,
मेरे पति आवें तो बचन ते न टरिहौं॥ —तोष

पुरुष के दाहिने अङ्ग का फड़कना शुभ मानते हैं और स्त्री के वामाङ्ग का। रामचरितमानस में श्री रामचन्द्रजी के लङ्का से प्रत्यागमन के अवसर पर भायप भक्ति की मूर्ति तपस्वी भरतजी के दाहिने अङ्ग बाहु और नेत्र फड़कते हुए दिखाये गये—

भरत नयन भुज दच्छिन, फरकत बारहिं बार।
जानि सगुन मन हरष अति, लागे करन बिचार॥

इन अङ्गों के फड़कने की पूर्ण व्याख्या शरीर क्रिया विज्ञान (Physiology) भी नहीं कर सका है। वह 'कैसे?' की ही व्याख्या

करता है, 'क्यों ?' की नहीं। कुछ फालतू स्नायु शक्ति सीधे रास्ते न जाकर अन्य स्नायु केन्द्रों की ओर झुक जाती है और उनमें स्फुरण पैदा कर देती है। वह शक्ति अपने पथ से क्यों विचलित हो जाती है, इसका कोई कारण नहीं दिया जाता है। जिन बातों का कोई वैज्ञानिक कारण नहीं दिया जा सकता उनको प्राय: दैवी मान लिया जाता है।

एक आगमिष्यत पतिका वाम बाहु को महत्व देती हुई कहती है—

बाम बाहु फरकत मिलैं, जो हरि जीवन मूरि।
तो तोही सों भेंटिहों, राखि दाहिनी दूरि॥

कुछ जानवर शुभ माने जाते हैं और कुछ अशुभ। तुलसी-दासजी ने नेवला, मछली, शीशा, सफेद चील, चकवा और नीलकण्ठ का दर्शन शुभ माना है—

नकुलु सुदर्सन दर्सनी, छेमकरी, चक, चाष।
दस दिन देखत सगुन सुभ, पूजहि मन अभिलाष॥

नकुल सर्प का भक्षक होने के कारण, मछली प्रेम का प्रतीक होने के कारण, शीशा अपना ही मुख दिखाने के कारण, छेमकरी अपने सफेद रंग के कारण, चकवा प्रातःकाल और आशा का प्रतीक होने के कारण, नीलकण्ठ (चाष) शिवजी के सादृश्य के कारण शायद शुभ माना जाता हो। छेमकरी का उल्लेख रामचन्द्रजी की बरात के प्रस्थान के समय भी हुआ है। उस समय और भी शुभ शकुन दिखाये गये हैं—

छेमकरी कह छेम बिसेखी, स्यामा बाम सुतरु पर देखी।
सन्मुख आयउ दधि अरु मीना, कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रबीना॥

अपशकुनों का साहित्य में कई स्थानों पर उल्लेख हुआ है। कमल लाने के अर्थ श्यामसुन्दर के कालीदह में कूदने पर नन्द और यशोदा को अपशकुन दिखाई दिये थे। यह स्नेहाधिक्य के कारण बढ़ी हुई शङ्का का फल था और यह शङ्का नितान्त अकारण भी नहीं थी।

देखे नन्द चले घर आवत।
पैठत पौरि छींक भई बाँएँ,
दाहिनैं धाह सुनावत।

फरकत स्रवन स्वान द्वारे पर,
जारी करति लराई।
माथे पर ह्वै काग उड़ान्यौ,
कुसगुन बहुतक पाई।
आये नन्द घरहिं मन मारे,
व्याकुल देखी नारि।
नन्द घरनि सौं पूछत बात,
बदन झुराइ गयौ कहाँ गये बल मोहन तात?
'भीतर चली रसोई कारन,
छींक परी तब आँगन आई।
पुनि आगे भई मँजारी,
बहुत कुसगुन मैं पाई॥'

यह लोक-विश्वास सूर और तुलसी के समय में भी थे और बहुत प्राचीन काल से चले आते हैं। इनमें से बहुत से अपशकुन स्वयं भी अपनी भयङ्करता के कारण अशुभ सूचना के द्योतक होते हैं; जैसे, श्वान का रोना आदि।

डुकरिया पुराण की सभी बातें बुद्धिवाद के विरुद्ध नहीं हैं। कुछ का कारण हम नहीं जानते, उनके कारण की खोज करनी चाहिये। कारण की खोज चाहे हम न कर सकें किन्तु जातीय मनोवृत्तियों और परम्पराओं के अध्ययन के ये अच्छे साधन हैं। दो चार उदाहरणों को सत्य होते देखकर इनको सत्य और वैज्ञानिक मान लेना भी ठीक नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने बहराइच के मियाँ साहब की जात के विरुद्ध दूषित सामान्यीकरण से बचने के प्रत्यक्ष अनुभव की अपील की है—

लही आँख कब आँधरे,
बाँझ पूत कब ल्याय।
कब कोढ़ी काया लही?
जग बहराइच जाय॥

हमको यह परीक्षाबुद्धि व्यापक बनाना चाहिये। लोक-विश्वासों के कारण खोजना चाहिये और केवल जनश्रुति पर निर्भर न रहकर परीक्षा करना चाहिये।

ऐसे बिरले ही होते हैं जो लोक-विश्वासों की अवहेलना

कर अपनी मौत को भी खतरे में डालते हैं। कबीरदास काशी में रहते थे किन्तु मरने के लिये मगहर गये। वहाँ के लिये यह विश्वास है कि वहाँ मरने वाला नरक में जाता है। वहाँ कर्मनासा नदी भी है जिसके कारण सब शुभ कर्मों का नाश हो जाता है। तुलसीदासजी इस बात में विश्वास करते थे। किन्तु कबीर ने बड़े साहस के साथ कहा :—

मगहर मरे तो गदहा होई,
भल परतीत राम सों खोई।
क्या कासी क्या ऊसर मगहर,
राम हृदय बस मोरा।
जो कासी तन तजै कबीरा,
रामै कौन निहोरा।

हमको अपने मन कपाट खुले रखकर परीक्षाबुद्धि से काम लेना चाहिये। तुलसी और कबीर के उद्धरण इस बात के प्रमाण हैं कि वे लोग भी बुद्धिवाद के नितांत विरुद्ध नहीं थे। हम तो बुद्धि से काम लेते हैं। इन लोक-विश्वासों को केवल कुपढ़ों की कपोल-कल्पना कहकर उड़ा देना ठीक नहीं। इनको मनोवैज्ञानिक अध्ययन का विषय बनाकर अन्य प्रान्तों के भी लोक-विश्वासों की जानकारी प्राप्त करना वांछनीय होगा। इससे भारत की सांस्कृतिक एकता पर प्रकाश पड़ेगा।

['प्राची' (८ नवम्बर, १९५४)]

फैशन का मनोविज्ञान

मनीषी-प्रवर डार्विन का विकासवाद का सिद्धान्त चाहे सच्चा प्रमाणित हो चाहे झूठा किन्तु अनुकरणशीलता में मनुष्य बंदरों का वंशज नहीं तो निकट सगोत्री अवश्य है। मानव जाति में अनुकरण की प्रवृत्ति सहज और व्यापक है। लड़के-बच्चों के घरुए-पतुए बनाने और गुड़िया-गुड्डों के अनुकरण-प्रधान खेलों से लगा कर चित्रकारी, मूर्तितक्षण-कला तथा नाटक-सिनेमा के नयनाभिराम और श्रुति सुखद नाना प्रकार के दृश्य, श्रव्य अभिनय, सब अनुकरण देव के दिग्दिगन्तव्यापी साम्राज्य का दुन्दुभी-उद्घोष करते हैं। हमारे पुराने रीति-रिवाज और आजकल के फैशन इसी अनुकरण-प्रवृत्ति की उपज हैं किन्तु इनमें थोड़ा अन्तर है।

रीति-रिवाज और फैशन में अन्तर—रीति-रिवाजों में काल-क्रमानुगत परम्परा की पावनी प्रतिष्ठा रहती है, तो फैशन में आधुनिकतम नवीनता के सुखद गर्व का अनुभव होता है। रीति-रिवाज की श्रृङ्खला पीछे की ओर जाती है, तो फैशन की कड़ियाँ सजीव वर्तमान में फैली रहती हैं। रीति-रिवाज का पुजारी वेदों, शास्त्रों और साहित्य के साथ समाज के बड़े-बूढ़ों के शिष्टाचरण का सहारा लेता है। फैशन का उपासक ताजे से ताजे अद्यतन अखबारों और पत्रिकाओं के चित्रों और टेलर-मास्टरों के वेद-वाक्यों को प्रमाण मानता है। रीति-रिवाज में अकल का दखल नहीं रहता, रुचि-वैचित्र्य के लिये इसमें कोई स्थान नहीं। यदि विवाह के समय घूरा पूजा जाता है तो नन्दनकानन के प्रतिरूप समारम्भों की पूजा नहीं हो सकती। माह-पूस में भी बारोटी के समय शर्बत के घड़े तो आते ही हैं चाहे कोई पिये नहीं। इसीलिये रीति-रिवाजों में परिवर्तन बहुत कम होते हैं, वे चाहे उपेक्षा की मौत मर जायँ। किन्तु फैशन मौसम की भाँति बदलते रहते हैं। जहाँ रीति-रिवाज में 'यथा धातापूर्वमकल्पयत्' की बात रहती है वहाँ फैशन 'नई आई पुरानी को विदा करो' की दुहाई देता है। तभी तो बेचारे दर्जियों और सुनारों को बेकारी का भूत नहीं सताता है। 'क्षणे-

क्षणे यन्नवतामुपैति' स्वरूपवाले फैशन देव की वे सदा जय मनाते हैं। रीति-रिवाजों की अपेक्षाकृत अपरिवर्तनशीलता का एक कारण यह है कि उनमें सामाजिकता की तुष्टि के साथ धार्मिकता भी रहती है। शुभ अवसरों से सम्बन्धित रीति-रिवाजों के रद्दोबदल में अनिष्ट का थोड़ा अज्ञात भय लगा रहता है। फैशन में केवल समाज के अनुमोदन का सुख और उसके भंग या परिवर्तन में कुछ हँसी का भय रहता है जो अनिष्ट के भय से कम शक्तिशाली है। मनुष्य में स्थिति-रक्षा (कंजरवेटिज्म) के साथ परिवर्तन की प्रवृत्ति भी रहती है। स्थिति-रक्षा की प्रवृत्ति रीति-रिवाज में रहती है तो परिवर्तन की प्रवृत्ति फैशन में। फैशन का रीति-रिवाज भी अधिक विरोध नहीं करते। फैशन हमारे सांस्कृतिक जीवन का समयानुमोदित एवं परिवर्तनशील अभिव्यंजन है। फैशन केवल पोशाक और वेश-भूषा का ही नहीं होता, वरन् सजावट आदि का भी होता है। परदों के रंग, फर्नीचर, मूर्तियों, फूलों, गुलदस्तों आदि के सब अलग-अलग फैशन होते हैं।

रीति-रिवाज की अपरिवर्तनशीलता—यहाँ पर रीति-रिवाज की अपरिवर्तनशीलता और फैशन की परिवर्तनशीलता के दो एक उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा।

विवाह के बहुत से रीति-रिवाज। जैसे, मधुपर्क से स्वागत करना, शिलारोहण, अरुन्धती और सूर्य का दर्शन, लाजा होम में बधू के भाई की उपस्थिति—सूत्रकाल से अक्षुण्ण चली आ रही है। गोस्वामीजी ने इनका सोल्लास वर्णन किया है—'पूज कीन्ह मधुपर्क' (पार्वती मंगल)। जानकी मंगल का वर्णन पढ़कर बहुत से लोगों की अपने विवाह की मधुस्मृति जागृत हो जायगी।

अगिनि थापि मिथिलेस कुसोदक लीन्हेउ।
कन्यादान विधान संकल्प कीन्हेउ॥
सिन्दूरबंदन होम लावा होन लागी भावरी।
सिल पोहनी करि मोहनी मन हर्‌यौ मूरति साँवरी॥
सिय भ्राता के समय भौम तहँ आयउ।
दुरी दुरा करि नेग सुतातु जनायउ॥
जुआ खेलावत कौतुक कीन्ह सियानिन्ह।
जीत हारि मिस देहिं गारि दुहु रानिन्ह॥

नई रोशनी के चकाचौंध में ये रीति-रिवाज कुछ धुँधले पड़ते जाते हैं। सिविल मैरिज में इनके लिये कोई स्थान नहीं रहा।

एक और उदाहरण लीजिये। दीपावली के दूसरे रोज पौ फटने से पूर्व स्त्रियाँ सूप को दो अँगुलियों से ठोंकती हुई दलिद्दर को दूर करती हैं। हमारे यहाँ सौभाग्यवश इस प्रथा का लोप नहीं हुआ है। उससे मेरे घर का दारिद्र्य दूर हुआ या नहीं (वैसे कोई शिकायत भी नहीं), किन्तु इतना लाभ अवश्य हुआ कि तुलसीदासजी की नीचे लिखी पंक्तियों का बिना टीका के अर्थ लगा सका—

फलै फूलै फैले खल, सीदै साधु पल पल।
खाति दीपमालिका, ठठाइत सूप है॥

फैशन की परिवर्तनशीलता—यह प्रथा तीन सौ वर्ष से जीवित है। हाँ! अब इसके जीवित रहने में शंका है। किन्तु तुलसी और सूर के समय के फैशन अब बदल गये हैं। उनका अवशेष अब अजायबघरों में या चित्रों में ही देखने को मिलेगा। सूरकृत कृष्णजी का तथा तुलसीकृत रामचन्द्रजी का बालवर्णन लीजिये और आजकल के फोटो कम्पटीशन के मुन्ना लोगों से मिलाइये, जमीन-आसमान का अन्तर मिलेगा।

कटि किंकिनी, पैंजनी पायन बाजति रुनझुन मधुर रेंगाये।
पहुँची करनि, कंठ कठुला बन्यो केहरिनख मनि जरित जराये॥
पीत पुनीत झगुलिया सोहत स्याम सरीर सुहाये॥
लटकन चारु भ्रकुटिया टेढ़ी मेठी सुभग सुदेस सुहाये।

मेठी शब्द कान के पास की अलकों का, जिन्हें संस्कृत में काक-पक्ष कहते थे, वाचक है। वे तो अब कुछ अर्द्धविकसित जातियों में अवश्य दिखाई पड़ती हैं। शिक्षा फैशन के परिवर्तनों में एक प्रधान तत्व है। नूपुर और किंकिनी का स्थान अब झुनझुनों ने ले लिया है। पहला जीवन अधिक संगीतमय था। सूर और तुलसी ने तो भगवान् कृष्ण और राम को कुलही से (जो फारसी कुलाह का लघुवाचक रूप है) सुशोभित किया है।

कुलही लसत स्याम सुन्दर कै, बहुविधि सुरंग बनाई। (सूर)

कुलही चित्र-विचित्र झँगुली।
निरखत मातु मुदित मन फूली॥ (तुलसी)

राजपूताने में भी परिवर्तन—इन चीजों के अब दर्शन दुर्लभ हो गये हैं। देशी रियासतों में स्थिति-रक्षा की प्रवृत्ति अधिक होती है। किन्तु वहाँ भी फैशन का भूत समाज को "परिवर्तनशीलता की ओर खींचे लिये जा रहा है। राजपूती पेंचदार पगड़ियाँ, आन-बान की पुनीत स्वरूपा नुकीली मूँछें, तनीदार अंगरखे, रङ्गीन कमरपेटे और सुनहरी-रुपहली मूठ की तलवारें अब परिवर्तन-चक्र की लपेट में आती जा रही हैं। उनका स्थान खुले गले के कोट और ब्रीचेज, साफे या हैट और क्लीन शेव ने ले लिया है। मूँछ का अब वह महत्व नहीं रहा है जो पहले था। रङ्गीनी भी अब थोड़ी बहुत साफे में रह गई है। दाढ़ी-मूँछों के क्षेत्र में सभी देशों में परिवर्तन हुए। इङ्गलैंड में दाढ़ी-मूँछों का ही नहीं गलमुच्छों का भी प्रभुत्व रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी के डारविन, हर्बर्ट स्पेन्सर वगैरह सब गलमुच्छे रखते थे। दाढ़ी मुड़ीं। मूँछें कट के तितली बनीं। फिर तितली बनते ही वे तुरन्त उड़ गईं। इसका प्रसार भारत में भी हुआ।

साधारण पुरुषों की वेश-भूषा—कमीजों ने ही हिन्दुस्तान में कितने फैशन बदले। एक जमाना था जब कि डिनर या ड्रेस सूट की चौड़ी प्लेटदार कलफ और घुटाई से कड़े और सुचिक्कण कफ और कालर वाली कमीज को पसन्द करते थे। कफ और कालर की कड़ाई और सफाई बेचारे धोबी की कार्यकुशलता के मापदण्ड बनते थे। अब बहुत दिन हुए वह बहार बीत गई और उनके प्रेमी भ्रमरों ने 'अइहैं बहुरि बसन्त ऋतु इन डारन वे फूल' की भी आशा छोड़ दी। इसका मुझे अफसोस नहीं क्योंकि मैं गरीबी के कारण इस शौक में नहीं पड़ा। कोटों और पैंटों में भी परिवर्तन हुआ। कोट कुछ ऊँचे उठे, गला कभी कम और कभी अधिक खुला। खुले गले में भीतर की धवल धौत कमीज की स्वच्छता का प्रदर्शन होता रहता है। टाई और बो भी चली। उनमें टाई का शौक अब भी बाकी है किन्तु बुशशर्ट ने उसे भी अजायबघर में पहुँचाने की तैयारी कर दी है। भला हो गांधी टोपी का, क्रिस्टी लन्दन की फैल्ट कैप तो भारत से ऐसी गई जैसे गधे के सिर से सींग। एक बार आगरे में मेरी फैल्ट कैप होली में स्वाहा हो चुकी है। घड़ी और चैन को भी रिस्टवाच ने पदच्युत कर दिया। पहले मैं ताँगे इक्केवालों

के मुख से सुना करता था 'डारि घरो श्रो चैन, छोरा बनि गयो जन्टरमैन।' यह बात अब भुलाई जा चुकी है। इसकी ध्वनि-तरंगें अब किसी दूरस्थ तारे में पहुँच गई होंगी।

जूतों में भी बड़े परिवर्तन हुए। देशी जूतों में सलीमशाही चलते थे और विलायती जूतों की नोक आदमी की नाक से प्रतिस्पर्द्धा करने लगी थी। वे शायद चर्च शेप कहलाते थे। बोदार पम्प शू का भी बोलबाला रहा। दरबारी ड्रेस का वह अंग बन गया था। फुलस्लिीपर और सिलीपरों ने भी कई रूप बदले। ग्रीसियन कट आया। कलकतिए स्लिीपर, जिनको स्त्री और पुरुष समान रूप से पहनते थे, अब शायद कलकत्ते में जीवित हों तो हों नहीं तो अब उनका स्थान बहुरुपिली चप्पल ने ले लिया है। हाफ बूटों का भी जमाना गया। शू का साम्राज्य आया। सैन्डिल को उसका उत्तराधिकार मिला और घर और बाहर दोनों में एक समान मान्य कांग्रेसी जनों और साहित्यिकों की कृपा से चप्पल प्रचार में आई। जूतों के तलों ने भी कई चोले धारण किये। लोगों की अहिंसावृत्ति जब जोर मारती है तब कभी क्रेप सोल, कभी रबर सोल और कभी टायर सोल चल पड़ते हैं किन्तु अभी निवृत्ति मार्ग की पूर्ण स्थापना नहीं हुई है।

कोट, पैंट अब भी अँग्रेजी के साथ-साथ, और बहुधा वहाँ भी जहाँ अँग्रेजी का लिया-दिया ज्ञान भी नहीं होता, चलते हैं किन्तु अब खद्दर के कुरते और गांधी टोपी का बोलबाला है। जहाँ दरबारी ड्रेस के बिना प्रवेश वर्जित था वहाँ अब राष्ट्रीय पोशाक में निमन्त्रण-पत्र के बिना भी धड़धड़ाते चले जा सकते हैं। किन्तु दुर्भाग्य, कुछ स्वार्थ-परायण लोगों के कारण गांधी टोपी को ४२० (फोर ट्वेन्टी) की भाँति ३०३ (थ्री नॉट थ्री) के नाम से, जो किसी कारतूस का नम्बर है, पुकारा जाता है। फिर भी शीर्ष स्थान पाने में इसका प्रतिद्वन्द्वी कोई नहीं है। वैध अवसरों पर शेरवानी, अचकन और चूड़ीदार पायजामा गांधी टोपी के साथ भारतीयता का द्योतक बना हुआ है।

औरतों की पोशाक—बेचारी अबलाएँ क्यों उपेक्षित रहें। नहीं तो उनकी मान-रक्षा के लिये किसी आचार्यप्रवर को लेखनी का अमोघ अस्त्र उठाना पड़ेगा। विलायत में तो स्कर्ट ने शेयर मार्केट

के भावों के से उतार-चढ़ाव देखे। पहले वे जमीन बुहारती चलती थीं, फिर जूतों के दर्शन होने लगे और फिर घुटनों तक आ गई, अब शायद उतार आ गया है। किसी जमाने में घेर में इतनी कमी हो गई थी कि फुदककर चलने की नौबत आ गई थी। अब बेचारी विलायती रमणी कटि की क्षीणता दिखाने के लिये पहले की सी कार्सेट नहीं पहनतीं। (हमारे यहाँ तो कवियों की दृष्टि में ही उनकी कटि भिड़ के समान हो गई और कविवर शंकरजी ने तो उनको ब्रह्म की समानता दे दी जिसके अस्तित्व में ही सन्देह आ गया।) वैसे कोई भौतिक बन्धन का आविष्कार नहीं हुआ नहीं तो कटि का अस्तित्व मिटाकर धड़ और टाँगें अलग हो जातीं। भारतीय औरतों की तीहल तो अब तीज-त्यौहार पर भी दर्शन नहीं देती। पहले जमाने में तो वह तोल और मोल दोनों में भारी होती थी। गोटा, किनारी, ठप्पा, पैमक, गोखरू, बाँकड़ी, सलमा, सितारा, गिजाई और कभी-कभी मोती भी, न जानें और क्या-क्या अलंकरण उसके पल्लों को अलंकृत करते थे। कपड़ा भी कमखाब से कम नहीं होता था। अब उसका स्थान एक पन्थ दो काज वाली एक ही वस्त्र में सांगोपांग सज्जित करने वाली साड़ी ने ले लिया है। सलवार उसकी प्रतिद्वन्द्विता कर रही है, किन्तु वह उसके आगे डटने वाली नहीं। अन्तःपट ने भी कई रूप बदले—फतुही, वास्कट, कमीज, ब्लाउज और बॉडिस प्रचार में आ गई। उनके नये-नये डिजायनों को प्रत्यक्ष रूप देने में टेलरों में भी विशेषीकरण हो गया है। अब लेडीज टेलर्ज अलग होते हैं। गहने अब तोल में तो नहीं मोल में अधिक भारी होते जाते हैं। यूरोप में स्वर्ण का स्थान प्लेटीनम लेता जा रहा है, किन्तु स्वर्ण अपने कार्य में स्वर्ण ही है। सौभाग्यसूचक आभूषणों में नथ का लोप होता जा रहा है क्योंकि उसमें कुछ दासता का आभास मिलता है।

फैशन बदलने के अपवाद—मैं अपने जीवन में तो फैशन से दूर रहा किन्तु इस लेख में फैशन के बहाव में बह गया। मनमोदकों से भूख बुझा ली। पाठकगण इस समय की बरबादी को क्षमा करेंगे।

फैशन बदलने के कारणों की छानबीन करने से पूर्व हमको

परिवर्तन के अपवादों पर भी विचार कर लेना चाहिये । फैशन बदलते भी हैं और कुछ स्थानों में स्थायी भी रहते हैं। बेपढ़े और जंगली लोग कम परिवर्तनशील होते हैं। विलायत के राजघराने और अभिजात्यवर्ग भी अपेक्षाकृत अपरिवर्तनशील होते हैं, विशेषकर वैधानिक अवसरों पर। अँग्रेज खाने की पोशाक बदले बिना कुछ असुविधा का अनुभव करने लगते हैं। अमरीका में ऐसी कड़ाई नहीं है। फ्रांस फैशन बदलने के लिये बदनाम है। धार्मिक लोग—पादरी और महन्तिनी—परिवर्तन की ब्यार से अछूती रहती हैं। पादरी लोग अब भी उलटा कालर पहनते हैं। मारवाड़ी स्त्रियों को भी फैशन की माया बहुत कम व्यापी है। उनमें कुछ ऐसी भी होती हैं जो क्षण में आधुनिक और क्षण में प्राचीनतम बन जाती हैं।

फैशन बदलते क्यों हैं ?—फैशन बदलने के कई कारण हैं। एक तो पुरानी चीज की ऊब से बचने के लिये अकारण भी फैशन बदले जाते हैं। फैशन में भी वैयक्तिक रुचि चलती है और उससे धीरे-धीरे परिवर्तन आरम्भ हो जाते हैं। फिर वे ही फैशन बन जाते हैं। जिस प्रकार प्राकृतिक परिवर्तन होते हैं उसी प्रकार फैशन के भी परिवर्तन होते हैं। फैशन के परिवर्तन में 'महाजनो येन गतः स पन्थः' का नियम अधिक चलता है। हमारे यहाँ गांधी टोपी, जवाहर बास्कट, कर्जनशाही मूँछें, जोधपुरी ब्रीचेज, जयपुरी साफा व्यक्ति और स्थान के नेतृत्व के द्योतक हैं। जीवन में सफल आदमियों का अधिक अनुकरण किया जाता है। लोग अज्ञात रूप से उसकी सफलता और पोशाक से सम्बन्ध सा जोड़ने लगते हैं।

फैशन के बदलने का एक मुख्य कारण यह भी होता है कि जब बहुत से साधारण लोग एक फैशन का भद्दा अनुकरण कर उसे बदनाम कर देते हैं तब बड़े आदमी अपनी असाधारणता कायम रखने के लिये कोई नया फैशन धारण कर लेते हैं और गरीब आदमी उनके साथ कदम मिलाकर नहीं चल पाते। बेचारे छोटे आदमी जब तक अपने को बिलकुल न बदल लें तब तक फशन का अनुकरण नहीं कर सकते। अकेले फेल्ट हैट या गांधी टोपी अथवा अँग्रेजी बाल से फैशन नहीं बनता। फैशन के लिये

सांगोपांगता चाहिये। वह बेचारे गरीब लोग नहीं ला सकते। फैशन के लिये धन भी आवश्यक होता है किन्तु उससे अधिक सुरुचि वांछनीय है। जो लोग जीवन की कला जानते हैं, जिनको रहने का सलीका मालूम है, वे लोग थोड़े पैसों में अच्छा फैशन बना लेते हैं।

फैशन के बदलने में शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता रहती है। पत्र-पत्रिकाएँ, सिनेमा वगैरह भी फैशन के प्रचारक होते हैं।

फैशन में यद्यपि हमेशा सुविधा का ख्याल नहीं रखा जाता, तथापि वह भी फैशन के बदलने में काम करती है। चौड़ी टो के जूते, चप्पलें, साड़ी, गांधी टोपी, बुशशर्ट आदि सुविधा के कारण अस्तित्व में आये। गांधी टोपी श्वेत होने के कारण पवित्रता की द्योतक तो है ही (अब चाहे उसका वह गुण तिरोहित हो गया हो), धुल जाने के कारण वह साफ भी रहती है। फैल्ट कैप कीमती अवश्य होती थी, किन्तु ब्रुश से भी उसकी धूल साफ नहीं होती थी और साधारण लोगों में सिर के तेल की चीकट बीभत्सता उत्पन्न कर देती थी। पैन्ट की मुहरी के छोटे-बड़े होने में सुविधा और सौन्दर्य दोनों की ही कार्यशीलता रहती है। कम चौड़ी मुहरी से साइकिल में सुविधा अवश्य रहती है किन्तु पैदल चलने में चौड़ी और ऊँची मुहरी ही सुविधाजनक होती है।

फैशन के पीछे हमारे बदलते हुए आदर्शों और सौन्दर्य का भी हाथ रहता है। नारी की गुलाब के झावें से खरोंच पड़ने वाली सुकुमारता का इतना मान नहीं है, वे पुरुषों के समकक्ष आना चाहती हैं, इसलिये कटि की क्षीणता का कृत्रिम साधनों से नहीं वरन् स्वास्थ्य के नियमों से सम्पादन किया जाता है। बदन का खुला या ढका रहना भी हमारे नैतिक आदर्शों पर निर्भर रहता है।

दूसरे देशों के सम्पर्क ने भी फैशन के क्षेत्र में उलट-पुलट की है। यूरोप हमारे फैशन का गुरु रहा है। अब यह दासता छूटती जा रही है, किन्तु स्थानीय स्थिति वहाँ के फैशन में भी रद्दोबदल कर देती है।

फैशन के पीछे मानसिक वृत्तियाँ—फैशन के पीछे अनुकरण की तो चालक शक्ति है ही, किन्तु उसमें प्रदर्शनवाद भी काम करता है।

फैशन में शरीर को शीतोष्ण से द्वन्द्वातीत बनाने की आवश्यकता-पूर्ति रहती ही है किन्तु उसका उद्देश्य शरीर को उभार में लाना भी होता है। फैशन बहुत-कुछ मानसिक दरिद्रता का भी सन्तुलन कर देता है। वह एक प्रकार से मनुष्य को हीनता के भाव से बचाये रखता है। जो लोग नये विचार समाज में लेकर नहीं आते हैं, वे अपने ढङ्ग से नये-नये सूट निकालकर समाज को अपनी अमीरी से आतंकित कर देते हैं। बस, गँवारूपन से बचने की आवश्यकता है। फैशन में सांस्कृतिकता वांछनीय है क्योंकि यदि उसमें संस्कृति की अभिव्यक्ति नहीं तो वह कुछ नहीं। अनुचित प्रदर्शन भी हँसी का कारण बन जाता है। कम जाड़े में ओवरकोट पहनना एक अव्यक्त मुस्कराहट का द्योतक होता है। फैशन का अनुकरण स्वेच्छा का अनुकरण होता है, इसलिये वह अखरता नहीं है। इसमें व्यक्ति के व्यक्तित्व और समाज के साथ एकरूपता की इच्छा दोनों की तुष्टि होती है। मनुष्य किसी के पीछे नहीं रहना चाहता है। वह सामाजिक जीव है। वह 'जैसा देश वैसा भेष' के सिद्धान्त का अनुयायी होता है किन्तु फैशन में किसी सीमा के भीतर उसके अस्तित्व का भी स्थान रहता है।

सुरुचि की आवश्यकता—आदमी अनुकरणमात्र से फैशनेबिल नहीं बनता है। उसमें लेखक की सी शैली (स्टाइल) रहती है। बिहारी की नायिका की भाँति—'वह चितवन औरै कछू जिहि वश होत सुजान'—फैशन में भी व्यक्ति की सुरुचि उसको साधारण की श्रेणी से ऊँचा उठा देती है। आजकल प्रजातन्त्र में फैशन के लिये किसी को रोक-टोक नहीं, 'नाउओं की बरात में सब ठाकुर ही ठाकुर होते हैं', फिर भी घोड़े-गधे का अन्तर रहता है। फैशन आकृति की कमी को बहुत अंश में पूरा कर देती है किन्तु आकृति फैशन को भी चमका देती है। आकृतिवान जो कुछ पहन लेते हैं वही अलंकार बन जाता है—

'किमिवहि मधुरारम्भा माण्डनं नाकृतीनाम्'

'कहा न भूषन होइ जो रूप लिख्यो विधि भाल'

[*'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'* (२० दिसम्बर १९५३)]

प्रोपेगैण्डा

आधुनिक युग का शक्तिशाली अस्त्र

प्रचार शब्द का पर्याय 'प्रोपेगैंडा' अँग्रेजी के उन शब्दों में से है, जो शिक्षित या अर्द्धशिक्षित लोगों द्वारा हिन्दी में भी बिना किसी रोकटोक के प्रयोग में आते हैं। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग पोप अर्बन अष्टम द्वारा सन् १६२३ में हुआ था। पहले-पहल वह धर्म-परिवर्तन अथवा धार्मिक-निष्ठा को दृढ़ बनाने के अर्थ में प्रचार-हेतु प्रयुक्त होता था। फिर राज्यों के सीमा-विस्तार की भाँति अर्थ-विस्तार से वह सभी प्रकार के प्रचार पर लागू होने लगा। 'प्रोपेगैंडा' जातियों, संस्थाओं और व्यक्तियों क्या निर्जीव पदार्थों तक का भी होता है।

विज्ञापन और प्रचार—विज्ञापन इस युग में प्रचार का प्रबल साधन है। नामी साहु की भाँति विज्ञापनकर्त्ता दूकानदार कमा खाता है। दुनियाँ में मूर्खों की कमी नहीं, विज्ञापन के सहारे पानी और धूल-मिट्टी भी बिक जाती है। विज्ञापन और प्रचार में यह अन्तर है कि विज्ञापन प्रचार की अपेक्षा अधिक खुला होता है। विज्ञापनकर्त्ता का उद्देश्य मालूम रहता है; वह संकेतों का प्रयोग नहीं या कम करता है। प्रचार करनेवाले का लक्ष्य व्यापक और कुछ-कुछ भविष्य की ओर बहता है; वह संकेतों से अधिक काम लेता है और यथासम्भव अपने वास्तविक उद्देश्यों पर एक स्वर्णिम आवरण डाले रहता है। वह उपनिषदों की भाषा में सत्य को हिरण्यमय पात्र में ढककर रखता है।

व्याख्या—विज्ञापन की अपेक्षा प्रचार का ध्यान मनुष्यों के मानसिक झुकाव, प्रेम, प्रशंसा वा घृणा तथा उन भावों से प्रेरित कार्यों और उनसे उत्पन्न होने वाले फल की ओर अधिक रहता है। उसका प्रभाव क्रमशः और संचयशील अधिक होता है। कभी-कभी विज्ञापनों में प्रचार भी मिला रहता है, जैसे चाय के विज्ञापनों में। बहुत से विज्ञापन तो काठ की हाँडी या बूर के लड्डुओं की

भाँति एक व्यक्ति को एक ही बार अपने जाल में फँसा सकते हैं। प्रचार का प्रभाव कुछ अधिक स्थायी और क्रियोन्मुख होता है।

प्रचार और 'सेन्सर' (काट-छाँट) में भी अन्तर है। 'सेन्सर' का कार्य निषेधात्मक है, प्रचार भावात्मक है। 'सेन्सर' झूठे प्रचार और झूठी खबरों को रोकता है; यह एक प्रकार से ब्रेक (रोक) का काम करता है और प्रचार भावों के प्रसार और कार्यों के संचालन को गति देता है।

विज्ञापन और प्रचार का अन्तर जानने के बाद हम प्रचार की व्याख्या कुछ अधिक सुविधा के साथ कर सकेंगे। प्रचार लोकमत को बनाने या उसमें परिवर्तन करने अथवा उस पर नियंत्रण करने के अथवा लोगों में नये विश्वासों, विचारों या मूल्यों के प्रचार और उनके द्वारा एक पूर्व-निश्चित रूप-रेखा के अनुकूल कार्य-कलाप को प्रेरित करने के निमित्त विचारपूर्वक आयोजित संकेतों, प्रतीकों या मानसिक चित्रों, नारों अथवा ऐसे ही मनोवैज्ञानिक साधनों को प्रयोग में लाने को कहते हैं।

कुछ उदाहरण—'रोज चाय पीयो और बहुत दिन जियो', 'प्रत्येक समय चाय का समय है', 'गरमियों में गरम चाय ठंडक पहुँचाती है,' 'चाय शुद्ध भारतीय पेय है' ऐसे वाक्यों में चाय का विज्ञापन तो कम होता है, किन्तु लोगों को चायमनस्क बनाने की प्रवृत्ति अधिक रहती है। इसी प्रकार बी० सी० जी०, स्वदेशी आदि का प्रचार किया जाता है। देश के रक्षार्थ हवाई जहाज तथा अन्य युद्ध-सम्बन्धी सेवाओं में भरती होने का प्रचार किया जाता है, जिससे लोग उनकी ओर झुकें। श्रम-दान, मकानों और मुहल्लों आदि की सफाई, मच्छरों से बचने, खुली हवा में रहने आदि का प्रचार किया जाता है, जिससे कि लोगों की स्वस्थ जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति बढ़े या लोग शारीरिक श्रम का गौरव समझें या देश की रक्षा में भाग लें। प्रचार अच्छा भी होता है और बुरा भी। पाकिस्तान भी अपने देश के लिये बहुत सा अच्छा प्रचार करता है, किन्तु भारत के प्रति घृणा का प्रचार करने में उसने दक्षता प्राप्त की है। हिटलर का यह विश्वास था कि झूठ को बार-बार दुहराने से वह सच का रूप धारण कर लेता है। आठ-दस ठगों ने मिलकर बकरी के बच्चे को कुत्ता बना दिया था और गड़रिये

को अपने आत्म-निश्चय के विरुद्ध भी उसे ठगों के लिये छोड़ना पड़ा था। यही प्रचार का प्रताप है। यह ठीक है, किन्तु जो झूठ बिलकुल सफेद होता है वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं होता है। जहाँ पाकिस्तान की ओर से यह कहा जाता है कि 'भारत में मुसलमानों के खून से होली खेली जाती है,' 'जमीन लाल हो रही है,' वहाँ कोई भी बुद्धिमान पुरुष आँखें खोलकर देख सकता है कि भारत के प्रत्येक शहर में मुसलमान स्वस्थ और निर्भय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। खून की होली का प्रचार साल भर से चल रहा है, फिर भी उनकी जनसंख्या में कमी नहीं हुई; यही इस झूठ का उत्तर है। खैर, उनका काम उनके साथ है, हमारे यहाँ तो सब जातियों को अभय-दान दिया गया है।

मनोवैज्ञानिक पक्ष—प्रचार 'रसरी आवत जात ते सिल पर होत निसान' की नीति में विश्वास करता है। वह संकेतों द्वारा व्यञ्जना-शक्ति से अधिक काम लेता है। व्यञ्जना का अर्थ आधा खुला और आधा ढका होता है। खुले के सहारे ढके का भी प्रभाव पड़ने लगता है। उसमें मन रमाने की अधिक सामग्री होती है। प्रचार में आत्म-रक्षा, धर्म-रक्षा, देश-हित आदि की प्रारंभिक प्रवृत्तियों को अधिक उत्तेजना दी जाती है। किसी संस्था या जाति या व्यक्ति के अनुकूल या प्रतिकूल प्रवृत्ति जागृत करने से पहले उसके द्वारा देश, जाति, समुदाय के प्रति होने वाले आर्थिक या सामाजिक अथवा धार्मिक हित वा अनहित की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है। पाकिस्तान नहरी पानी के नियन्त्रण के कारण वहाँ की सूखी हुई फसलों का चित्र उपस्थित कर भारत के प्रति घृणा जागृत करता है। प्रचार करने वाले लोग पेचीदा प्रक्रिया नहीं देते, वरन् वे विवेचनीय पक्ष आर्थिक, सामाजिक या धार्मिक हानि-लाभ के शब्दों में दो-टूक करके दिखा देते हैं। प्रचार प्रायः एकपक्षीय होता है। उसके शिकार प्रायः भूल जाते हैं कि जीवन इतना सरल नहीं कि उसके सम्बन्ध में इदमित्थं निश्चित रूप से कहा जा सके। हर एक बात के कृष्ण और शुक्ल दो पक्ष होते हैं। एक पक्ष पर ही बल देना एकांगिता है। प्रत्येक विचारशील मनुष्य को एकांगिताओं से बचना चाहिये।

संक्षेप में हम इसके मनोवैज्ञानिक पक्ष को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

(१) प्रचार का सम्बन्ध मनुष्य की किसी मौलिक आवश्यकता या इच्छा से होता है।

(२) प्रचार में बुद्धि का तो आभास मात्र रहता है, किन्तु मनोवेगों को उत्तेजना दी जाती है, क्योंकि उसका सम्बन्ध केवल मत-परिवर्तन से ही नहीं होता वरन् क्रिया से भी होता है। क्रिया के लिये आवश्यक शक्ति-स्रोत मनोवेगों पर ही निर्भर रहता है। बुद्धि हमको मार्ग निश्चित करने में सहायक होती है। कार्य में उत्साह मनोवेगों द्वारा ही आता है।

(३) विवेच्य विषयों को सीधे से सीधे शब्दों में दो-टूक कह देना प्रचार का एक वांछनीय गुण है। इससे सुनने वाले या पढ़ने वाले को अपने आगे का रास्ता बिलकुल साफ दिखाई देने लगता है। श्रोता पेचीदगियों और तार्किक भूलभुलैयों में नहीं पड़ना चाहता।

(४) सतत् पुनरावृत्ति द्वारा प्रचारक प्रभाव को जमाने और दृढ़मूल करने का प्रयत्न करता है। एक बात के बार-बार दुहराये जाने से एक प्रकार का मानसिक नशा उत्पन्न हो जाता है, जो श्रोता को दुनिया की और बातों से बेखबर कर देता है। सुनने वाले के सामने जब दूसरा पक्ष नहीं आता तब विचारों की पुनरावृत्ति और भी सफल होती है। झूठ का यदि प्रतिवाद न किया जाय तो सुननेवाला उसको प्रचारित बात की निषेधात्मक पुष्टि या गवाही समझता है। बहुत से लोग भारत के इसी शिष्ट मौन का लाभ उठाकर अपनी बात को सत्य समझने का आत्म-सुख अनुभव करते हैं।

(५) सीधे कथनों की अपेक्षा व्यञ्जनाएँ और संकेत अधिक लाभदायक होते हैं।

(६) जब एक बार मानसिक झुकाव पैदा हो जाता है तब सीधे कथन भी प्रभावशाली होते हैं। एक बार पूर्व-निर्णय की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाने पर अतिरंजित दोषारोप, मिथ्या कथन, सब ग्राह्य हो जाते हैं। पाकिस्तान अपने श्रोताओं की भारत के विरुद्ध पूर्व-निर्णयपूर्ण मनोवृत्ति की ग्राहकता का लाभ उठाकर

मनचाहे आरोप करता है। ग्राहक मन सब बातों का विवेचना-शून्य होकर स्वागत करता है।

(७) प्रचार में व्यापक नारों या गढ़े-गढ़ाये शब्दों का प्रयोग किया जाता है। नारों में कुछ अधिक सांकेतिकता रहती है। 'धर्म खतरे में है', 'मजदूरों की हड्डियों पर वैभव के भवन खड़े किये जाते हैं', 'ये विचार दकियानूसी हैं', 'यह मानसिक गुलामी है', 'यह साम्प्रदायिकता है', 'यह फ़िरकापरस्ती है', 'यह टट्टी की ओट शिकार खेलना है', 'हाथी के दाँत खाने के और और दिखाने के और होते हैं' ऐसी शब्दावली का प्रयोग कर दूसरे की बेईमानी, धोखेबाजी और अनुचित हरकतों के संकेत सहज में दिये जाते हैं। इन वाक्यों द्वारा जो चित्र उपस्थित किये जाते हैं वे सहज में नहीं धोये जा सकते।

प्रचार के साधन—(१) मंचीय व्याख्यान—प्रचार के लिये नेताओं और वक्ताओं के व्याख्यान बहुत काम करते हैं। व्याख्यान सुनने के लिये जो भीड़ इकट्ठी होती है, उसकी सामूहिकता अपना मनोवैज्ञानिक प्रभाव रखती है। लोगों की भाव-भंगी एक-दूसरे को प्रभावित करती है और श्रोतागण एक भाव-लहरी में बह उठते हैं। कुशल वक्ता के धारावाहिक भाषण में तर्क का बाँध टूट जाता है और जनता एक प्रभाव में बह उठती है।

(२) पत्र-पत्रिकाएँ—बुद्धिपरक व्यक्तियों के लिये पत्र-पत्रिकाएँ मत-परिवर्तन में बहुत काम करती हैं। उनका प्रभाव संचयात्मक होता है। पाठकों को अपने विचार से भी काम लेने का अवसर मिल जाता है। अग्रलेख, सम्पादक के नाम पत्र, विशेष लेख आदि सब लोकमत-निर्माण के साधन होते हैं। हैंडबिल, ट्रैक्ट, पैम्फ़-लेट आदि भी इस कार्य को सुविधापूर्वक करते हैं। इनके द्वारा किया हुआ कार्य अधिक स्थायी होता है।

(३) रेडियो—आजकल के युग का यह भी प्रचार-सम्बन्धी एक प्रबल साधन है, जो प्रायः सरकार द्वारा नियन्त्रित रहता है। इसका उपयोग सरकारें ही कर सकती हैं और वे अपना प्रचार करने में इसका थोड़ा-बहुत उपयोग करती भी हैं। भारत सरकार भी अपनी पंचवर्षीय योजना, ग्राम-सुधार, सहकारी समितियाँ, चकबन्दी आदि उपयोगी बातों का प्रचार करती है। युद्ध के दिनों

में सरकारें इसका एक-दूसरे के विरुद्ध खुलकर प्रयोग करती हैं। पिछले महायुद्ध में जापान, जर्मनी आदि का प्रबल प्रचार होता था। आजकल भी अनेक राष्ट्र रूस, अमरीका, ब्रिटेन आदि अन्य राष्ट्रों के हित के बहाने अपना प्रचार करते हैं। यह प्रचार सूक्ष्म और उच्च कोटि का होता है। कुछ सरकारें, जैसे हमारे पड़ोसी देश की सरकार, युद्ध की स्थिति उपस्थित हुए बिना भी दिल खोलकर युद्ध के दिनों का सा विरोधी प्रचार करती हैं।

रेडियो की अपील यद्यपि सामूहिक नहीं होती, कुछ बाजार और छोटे होटलों के रेडियों को छोड़कर अधिकांश व्यक्ति घर में ही उसे सुनते हैं, तथापि उसका फल सामूहिक जैसा ही होता है, क्योंकि उसकी अपील सरकार का प्रमाणपत्र लेकर आती है।

हमारी सरकार रेडियो को व्यापारिक बनाने में विश्वास नहीं करती। यदि उसे व्यापारिक बना दे, फिर तो वह प्रत्येक पैसा देने वाले दल के प्रचार का साधन बन जाय और तू-तू-मैं-मैं का भी अखाड़ा तैयार कर दे। रेडियो विज्ञापनों द्वारा विदेशी वस्तुओं का भी प्रचार होने लगे। श्रीलंका का रेडियो व्यापारिक प्रचार भी करता है।

(४) सिनेमा—पहले जो काम नाटकों के रङ्गमञ्च से होते थे, वे अब सिनेमा से होते हैं। सिनेमा द्वारा खेती, उद्योगादि के नये प्रयोग दिखाये जाते हैं। समाचार फिल्मों द्वारा देश में होने वाले महत्वपूर्ण कार्यों के प्रति गौरव भावना उत्पन्न की जाती है। फिल्म द्वारा सामाजिक सुधार भी किया जाता है।

उपन्यास भी प्रचार का अच्छा साधन है। दहेज-प्रथा, जमींदारों के अत्याचार आदि को दूर करने में उसने सराहनीय योग दिया है।

प्रचार एक शक्तिशाली अस्त्र है। उसका सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों ही होते हैं। देश में स्वास्थ्य-नियमों के प्रचार करने, उद्योगों को लोकप्रिय बनाने, शारीरिक श्रम का गौरव बढ़ाने, निरक्षरता-निवारण आदि अच्छे कामों में उसका प्रयोग हो सकता है। घृणा का प्रचार उसका दुरुपयोग है। सेन्सर राष्ट्र के भीतर तो दुरुपयोग को रोकता है, किन्तु अभी अन्तर्राष्ट्रीय 'सेन्सर' की आवश्यकता है, जो रेडियो द्वारा घृणा के प्रचार को रोके। [*'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'* (१० अक्तूबर १९५४)]

रसराज हास्य

—और उसके विभिन्न रूप—

हास्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देना साहित्य की अपेक्षा दर्शन-शास्त्र का विषय अधिक है। इसके विश्लेषण के भ्रमरजाल में प्रवेश करना प्रेम-पयोनिधि में धँसने के ही बराबर है जिसके लिये कहा गया है—'प्रेम पयोनिधि में धँसिकै, हँसिकै, कढ़िबो हँसि खेल नहीं है।'

हास्य क्या है और क्या नहीं है, अत्र कवयोऽपि मोहिता, फिर अस्मदादिकानांनराणां का वार्ता? मैं गहरे में जाकर तो नहीं—गहराई में तो दम घुटता है—किन्तु कबीर की बौरी की भाँति किनारे बैठकर ही जो तथ्य निकाल सका हूँ, उनको पाठकों के सामने रखने की चेष्टा करूँगा।

रसराजत्व—महाकवि देव ने शृंगार को रसराज कहा है—

निर्मल शुद्ध सिंगार रस, देव अकास अनन्त।
उड़ि-उड़ि खग ज्यों और रस बिबस न पावत अन्त॥

उत्तररामचरित के रचयिता संस्कृत साहित्य के विभूति स्वरूप भवभूति ने करुण रस को मुख्यता दी है—एकोरसः करुण एव—आचार्यप्रवर विश्वनाथ ने अपने एक गुरुजन पितृदेव या पितृक धर्मदत्त जी का एक श्लोक—

रस सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुता रसः॥

उद्धृत कर अद्भुत रस को शीर्ष स्थान दिये जाने की ओर संकेत किया है।

उनकी सी ही उक्ति का आश्रय लेकर हास्य को रसराजत्व के पद पर प्रतिष्ठित करते हुए कहा जा सकता है कि रस का प्राण आनन्द में है, आनन्द का मूल प्रसन्नता है और प्रसन्नता हास्य में प्रत्यक्ष और मूर्तिमती हो जाती है।

दो दृष्टिकोण—हास्य रसराज हो या न हो, यदि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जीवित होते तो मेरी इन उक्तियों को ऐसे ही उड़ा देते जैसे हम रसवादियों के (मैं भी पाँचवे सवारों में हूँ)

परम गुरु आचार्य विश्वनाथ के गुरुजन की उक्ति को; किन्तु हास्य रस अवश्य है। रस की दृष्टि से देखें तो उसके दो पक्ष होते हैं—एक आलम्बन और दूसरा आश्रय। जिस पर हँसा जाय वह आलम्बन है और जो हँसे वह आश्रय। आलम्बन में कुछ ऐसी बात होनी चाहिये जो हमारी हास्य वृत्ति को उत्तेजित कर सके और हँसने वाले में भी कोई ऐसा परिवर्तन हो, जो हँसी का रूप धारण कर सके।

हास्य के सम्बन्ध में आलम्बन की दृष्टि से कई कल्पनाएँ हैं। उन सबमें किसी न किसी प्रकार की असंगति, बेमेलपन, विपरीतता या उलटापन होता है। हास्य का मूल रस-ग्रन्थों में इस प्रकार बतलाया गया है—

भाषा भूषन भेष जहँ, उल्टे ही कर भूल।
हँसी सु उत्तम मध्य लघु, कह्यो हास्य रस मूल॥

उलटे का अर्थ बिलकुल सिर नीचे और पैर ऊपर (शीर्षासन) करना नहीं है, वरन् कोई बेमेल, औचित्य से शून्य, परिनिष्ठित, मार्ग से हटी हुई चीज या बात हो सकती है। (इसीलिये कभी-कभी उग्र सुधारकों और आविष्कारकों की हँसी उड़ाई जाती है।) मई-जून में अमीरी और शहरीपन का दिखावा करने के लिये गुलूबन्द डालना (ऐसा प्रायः गाँव के लोग ही करते हैं), शहरी लोगों की ग्रामीण बोली अथवा ग्रामीणों की शहरी भाषा, मौलवियों और पंडितों की अँग्रेजी शब्दावली, ऊँट से लम्बे पति के साथ नाटी स्त्री और पूतना की सी विशालकाय पत्नी के साथ पुत्रोपम पति, सब हास्य के कारण बनते हैं।

अनुपात से बाहर की चीज भी हास्यजनक होती है, जैसे बड़े हॉल में बड़ी तैयारी की सजावट के बाद सभापति, कोषाध्यक्ष, मंत्री और संस्था के वेतनभोगी कर्मचारियों की बाप-पूत-बराती की सी या ढाक के तीन पात की सी श्रोता-मण्डली या किसी दम्पति की एक दर्जन से ऊपर सन्तान हास्यजनक होती हैं।

बर्गसाँ का मत—आलम्बन की दृष्टि से दिये हुए मतों में बर्गसाँ का मत विशेष महत्व का है। वह यह है कि जब मनुष्य अपनी नैसर्गिक स्वतन्त्रता को छोड़कर यंत्र की भाँति काम करने लगता है, तब वह हास्य का विषय बन जाता है। मनुष्य में जो

जीवन-शक्ति है; वह उसे नई परिस्थितियों से अनुकूलता प्राप्त कराती रहती है। किन्तु कभी-कभी मनुष्य नई परिस्थिति में भी पुरानी की भाँति प्रतिक्रिया करता है, तभी वह हास्य का विषय बन जाता है। जैसे, फोन पर एक इन्सपेक्टर साहब बात कर रहे थे। दूसरे छोर पर सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस ने कहा कि मैं एस० पी० बोल रहा हूँ। तुरन्त इन्सपेक्टर साहब का हाथ ऊपर उठकर फौजी सलाम की मुद्रा में हो गया। देखने वाले हँस पड़े। जो मनुष्य रपट पड़ता है और अपना सन्तुलन नहीं कर सकता है, वह भी इसलिये हँसी का पात्र होता है कि वह सचेतन मनुष्य की भाँति नहीं वरन् मशीन की भाँति काम करता है। यह भी प्रकृति-विरुद्ध या विपरीतता का ही उदाहरण है।

आश्रय की दृष्टि से—हँसने वाले के दृष्टिकोण को बतलाने वाले कई मत हैं। एक मत तो मनोविश्लेषण-शास्त्रियों का है। उनका कथन है कि हास्य व्यक्ति की यौन-वासना, घृणा, द्वेष, क्रोध आदि अचेतन मन के निचले स्तरों में अवदमित वासनाओं का अपेक्षाकृत निरापद निकास का मार्ग है। और भी निकास के मार्ग हैं, यथा स्वप्न, दैनिक भूलें आदि। जैसे, किसी पटवारी की कलम गिर पड़ी और बेचारे किसान ने हृदय की दमित वासना को व्यक्त करते हुए कहा—"मुंशीजी आपकी छुरी गिर गई।" लोग जमींदार को हँसी में 'जिमीमार', लार्ड चेम्सफोर्ड को 'चिलमफोड़' या 'करमफोड़' और जॉन मार्ले को 'जान मार ले' कह देते थे। एक गोपी की कुब्जा के प्रति दबी हुई ईर्ष्या का व्यंग्य में व्यक्तीकरण देखिये—

> गोकुल में जोरी कोउ, पाई नाहिं मुरारि।
> मदन त्रिभंगी आपु हैं, करी त्रिभंगी नारि॥

अवदमित मादन भाव या यौन-वासना के निकास के लिये प्रायः सांकेतिक शब्दावली अथवा दो अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग होता है, जैसे, यौवन के लिये बसन्त, वासना के लिये भूख आदि। वास्तव में बहुत से सांकेतिक आवरण कबीर की भीनी-बीनी चदरिया की भाँति पारदर्शक होते हैं। उनको यहाँ देना अश्लीलता का तट स्पर्श करना होगा। सांकेतिक विनोद की क्षीण आभा राम-सीता के वार्तालाप की निम्नलिखित पंक्तियों में झलकती है।

यह झलक अव्यक्त ही रहती यदि गुप्तजी ने यह कहकर कि 'मेरा विनोद तो सफल, हँसी तुम आहा' उसे व्यक्त न कर दिया होता—

यह सीता फल जब फले तुम्हारा चाहा।
मेरा विनोद तो सफल, हँसी तुम आहा॥
(साकेत, पृष्ठ १६३)

फ्रायड के अनुयायी जिस वासना का अधिक अवदमन हानिकर मानते हैं और जिसको दबाने की सामाजिक औचित्य-दर्शक को आवश्यकता पड़ती है, वह है काम-वासना और विशेषकर वर्जित रति। फ्रायडियन ऐसी वासनाओं को सबमें मानते हैं। (यह विवाद का विषय है।) उदाहरण के लिये बिहारी का प्रसिद्ध दोहा लीजिये। इसमें श्लेष या द्वयर्थकता का बड़ी विदग्धता के साथ सहारा लिया गया है—

चिरजीवो जोरी जुरै, क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥

वृषभानुजा के दो अर्थ हैं—वृषभ (बैल) की अनुजा (बहन) और वृषभानु (राधारानी के पिता) की जा (पुत्री)। हलधर के भी दो अर्थ हैं—एक तो बैल, क्योंकि वह हल धारण करता है, और दूसरा बलराम, क्योंकि हल और मूसल, जो खेती के प्रतीक हैं, उनके अस्त्र और प्रतीक थे। इस प्रकार बैल के द्वारा दोनों का भाई-बहन का सम्बन्ध हो गया। यह नायक-नायिका की उतनी नहीं, जितनी कवि के हृदय की दमित वासना का द्योतक है, ऐसा फ्रायडवादी कहेंगे। कवि की आत्मा मुझे क्षमा करे, यह वर्ज्य रति की व्याख्या एक मनोविज्ञान के प्रोफेसर ने की थी। मैंने वैज्ञानिक व्याख्या के हेतु यह पाप अपने ऊपर ले लिया है! विज्ञान के निमित्त बहुत सी जीव-हिंसा होती है। इसको मैं 'वैदिकी हिंसा' ही कहता हूँ—'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।' कोई श्रद्धालु सज्जन मुझे बुरा-भला न कहें। एक डाक्टर प्रोफेसर ने तो बाल्मीकि रामायण के आदि श्लोक 'क्रौंचमिथुनादेकमवधी काममोहितम्' के आधार पर कवि के हृदय में रति-भावना झाँकती हुई देखी है।

आश्रय सम्बन्धी अन्य कल्पनाएँ—घृणा और काम-वासना के निकास की कल्पना से सब प्रकार के हास्य की व्याख्या नहीं होती। दूसरों की भूल या विकृति में जो हास्य जागरित होता है,

उसमें लोग हँसने वाले के छिपे हुए अहं और अपनी उच्चता की भावना को उत्तरदायी समझते हैं। प्रत्येक हँसनेवाले में थोड़ी-बहुत दबी हुई क्रूरता होती है। सज्जन दूसरों की भूलों और विकृतियों को सहृदयता की दृष्टि से देखते हैं और दूसरे लोग उन पर हँसते हैं। ऐसी हँसी कभी कभी कलह-मूल भी हो जाती है। महाभारत में इसका ऐतिहासिक उदाहरण मिलता है। जब दुर्योधन युधिष्ठिर की राजसभा में गया तब वहाँ के फर्श की चमक के कारण दुर्योधन ने स्थल को जल समझा और कपड़े ऊँचे उठा लिये। द्रौपदी हँस पड़ी। यहीं तक गनीमत थी, पर वह और भी कह बैठी—'अन्धों के अन्धे ही होते हैं।' इसी का जवाब देने के लिये द्रौपदी को दुर्योधन ने नंगा करना चाहा, क्योंकि अन्धों की सभा में नंगे होने में क्या बुराई, फिर भी भगवान् ने उसकी लाज रख ली। (जैसी उसकी रखी वैसी सबकी रखें।)

उच्चता की भावना के अतिरिक्त कुछ धन्यवाद की सी भावना हास्य में रहती है। इससे यह भूल हुई, शुक्र है परवरदिगार का कि मुझसे यह भूल नहीं हुई। यह भावना कम नहीं होने पाती।

एक और कल्पना है जो मेरी भी है। मेरे पूर्वज (वंश के पूर्वज नहीं, वरन् विचार के पूर्वज) उसको मुझसे पहले कह चुके हैं। उसका ज्ञान मुझे इसी साल हुआ है, इसलिये अब मैं उसे अपनी न कहूँगा। खैर वह यह है कि जब कोई विपरीतता या विकृति या बेढंगापन दिखाई पड़ता है, तब भारी अनिष्ट की आशंका होती है, एक तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है। फिर यदि कोई भारी अनिष्ट नहीं होता तब वह तनाव दूर हो जाता है और प्रसन्नता में हँसी निकल पड़ती है। यह कल्पना अधिक मानवता-परक है। वास्तव में करुणा और हास्य में थोड़ा ही अन्तर रह जाता है। केले के छिलके से कोई रपट पड़े और झाड़-पोंछकर उठ बैठे तो लोग हँस पड़ते हैं, किन्तु यदि टाँग टूट जाय तो हास्य करुणा में परिणत हो जाता है।

अप्रत्याशितता, विपरीतता, परिनिष्ठित मार्ग से हटा हुआ या बढ़ा हुआ होना, ये सब बातें पीटी हुई लकीर पर चलने से पैदा हुई ऊब को एक सुखद और निरापद ढंग से दूर करती हैं। जब

अप्रत्याशितता अनिष्टकारिणी होती है (जैसे अकस्मात् कोई मोटर उलट जाय) तब तो वह करुणाजनक बन जाती है; किन्तु किसी को एक नये ढंग से बेवकूफ बनाया जाय और उसकी अधिक हानि न हो तो हँसी आती है। चुटकुलों में प्रायः ऐसी अप्रत्याशित सुखद नवीनता रहती है। नवीनता सौन्दर्य और रमणीयता का भी मूल है और हास्य का भी—क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।

एक चुटकुला लीजिए—

पत्नी—मुन्नी ने स्याही पी ली है।

पतिदेव—तो पैंसिल से लिख लो।

पत्नी—अजी कुछ दवा बताइये।

पतिदेव—ब्लाटिंग की गोलियाँ बनाकर खिला दो।

हास्य के प्रकार—हास्य के व्यापक रूप से कई प्रकार होते हैं। अपने यहाँ जो स्मित, हसित, प्रतिहसित और अट्टहास माने गये हैं वे तो परिमाण पर आधारित हैं। देव ने उत्तम, मध्यम और निकृष्ट रूप भी माने हैं। किन्तु गुण भेद से और भी कई प्रकार हैं। शुद्ध हास को तो हास्य ही कहेंगे, किन्तु जहाँ किसी दूसरे को बेवकूफ बनाने के लिये हास्य किया जाता है उसे उपहास कहेंगे। यह उपहास कटुता-सहित और कटुता-रहित हो सकता है। द्रौपदी ने दुर्योधन से जो हँसी की थी वह कटु उपहास की ही कोटि में आयगी।

ऊधौजी सूर की गोपियों के उपहास के अच्छे शिकार बने थे। वह खूब बनाये गये। कभी तो गोपियाँ कहती हैं कि आप फिर सुन तो आइये आपके मित्र कृष्णजी ने क्या कहा था। कहीं आपके सुनने-समझने में तो भूल नहीं हुई ? (व्यंजना यह है कि आपकी अक्ल में कुछ फितूर मालूम होता है।)

ऊधौ जाय बहुरि सुनि आवहु।
कहा कह्यो है नन्द कुमार॥
यह न होय उपदेश स्याम को।
कहत लगावत छार॥
ऊधौ नाहु तुम्हें हम जानै।

फिर वे बड़े भोलेपन से पूछती हैं कि कहीं श्यामसुन्दर ने

तुम्हें बेवकूफ तो नहीं बनाया ? जब उन्होंने तुम्हें यहाँ भेजा था तब वह कुछ थोड़ा सा मुसकराये तो नहीं थे ?

सॉंच कहौ तुमको अपनी सौं, बूझत बात निदाने ।
सूर स्याम जब तुम्हैं पठाये, तब नेकहु मुसकाने ?

(भ्रमरगीत की भूमिका, पृष्ठ ५६)

हास-परिहास—आपसी हँसी-मजाक जो होता है उसे परिहास या हास-परिहास कहते हैं । उसमें हाजिर-जवाबी रहती है । इसके उदाहरण 'साकेत' के प्रथम सर्ग में उर्मिला-लक्ष्मण संवाद में मिलते हैं—

लक्ष्मण—किन्तु मैं भी तो तुम्हारा दास हूँ ।
उर्मिला—दास बनने का बहाना किसलिये ?
क्या मुझे दासी कहाना, इसलिये ?
देव होकर सदा तुम मेरे रहो,
और देवी ही मुझे रक्खो अहो ।
तब कहा सौमित्र ने कि यही सही,
तुम रहो मेरी हृदय-देवी सदा,
मैं रहूँ तुम्हारा प्रणय-सेवी सदा,
फिर कहा—'वरदान भी दोगी मुझे ?'

एक और लीजिये—

अवश अबला हूँ न मैं, कुछ भी करो,
किन्तु पैर नहीं, शिरोरुह तब धरो ।
लक्ष्मण—साँप पकड़ाओ न मुझको निर्दये,
देखकर ही विष चढ़े जिसका प्रिये !
अमृत भी पल्लव-पुटों में है भरा,
विरस मन को भी बना दे जो हरा ।

(साकेत, पृष्ठ २३)

इसको अँग्रेजी में 'विट' या वाक्चातुर्य कहेंगे । इसमें शाब्दिक चमत्कार भी अधिक रहता है । अकबर-बीरबल के चुटकुले ऐसे परिहास के अच्छे उदाहरण हैं । एक बार अकबर की माला बीरबल के हाथ से जमुनाजी में गिर पड़ी । अकबर ने कहा—"माला दो ।" बीरबल ने तुरन्त उत्तर दिया—"बहन दो ।" इससे वर्जित रति के सिद्धान्त की बात भी उदाहृत हो जाती है ।

अन्य प्रकार—हास्य के कई और प्रकार भी हैं—शुद्ध साहित्यिक हास्य, जो केवल दिल की फालतू उमंग निकालने के लिये (यह भी आश्रय-सम्बन्धी हास्य के सम्बन्ध में कल्पना है) किया जाता है। इसके कई रूप होते हैं। एक संस्कृत का श्लोक लीजिये—

असारे खलु संसारे सारं श्वशुरमन्दिरम्।
हरिः शेते क्षीराब्धौ हरः शेते हिमालये॥

इसमें हास्य की बात यह है कि यह श्लोक 'असारे खलु संसारे' से शुरू होता है। ऐसा मालूम पड़ता है, कोई वेदान्त की बात कही जायगी; किन्तु एक साथ गिरती है तो श्वशुर-मन्दिर पर और फिर एक साथ उठती है तो हरि और हर दोनों को लपेटे में ले लेती है।

नीचे के छन्द में भी महतो महीयान विष्णु, शिव, और ब्रह्मा के साथ क्षुद्रातिक्षुद्र खटमल जोड़ा गया है—

जगत के कारन, करन चारों वेदन के,
कमल में बसे वे सुजान ज्ञान धरिकै।
दोखन अवनि दुख सोखन तिलोकन के,
समुद्र जाय सोये सेज सेस करिकै॥
मदन जरायो संहार्‌यो दृष्टि ही सो सृष्टि,
बसे हैं पहार तेऊ भाजि हरबरिकै।
विधि हरि हर बड़े इनसे न कोऊ तेऊ,
खाट पै न सोवैं खटमलन सों डरिकै॥

बात को आवश्यकता से अधिक बढ़ा देना भी हास्य का कारण होता है। व्यंग्य चित्रों में भी यही बात होती है। जो लोग बात-बात में तुकबन्दी करते हैं और कवि होने का आत्मगौरव वहन करने लगते हैं उन लोगों का श्री अन्नपूर्णानन्द ने 'महाकवि चच्चा' में बहुत अच्छा खाका खींचा है। महाकवि चच्चा के गुरु के तोते को बिल्ली ले जाती है। वह अपने नौकर से कहते हैं—

अरे पनरुआ दौड़ बिलरिया ले गई सुग्गा।
तू मन मारे खड़ा निहारे जैसे भुग्गा॥

कवि बेनी को दया करके किसी दानी सूम ने आम दिये थे। उनकी छुटाई की अतिशयोक्ति हास्य का कारण बन जाती है—

चींटी की चलावै को, मसा के मुँह आय जाय,
स्वास की पवन लागे कोसन भगत है।

ऐनक लगाये मरु-मरु के निहारे जात,
अनु-परमानु की समानता खगत है ॥
'बेनी' कवि कहै और कहाँ लौं बखान करौं,
मेरे जान ब्रह्म को बिचारिबो सुगत है।
ऐसे आम दीने दयाराम मन मोद करि,
जाके आगे सरसों सुमेरु सो लगत है॥

महाकवि शंकरजी ने नायिका की कमर की सूक्ष्मता की तुलना ब्रह्म से की थी। किन्तु बेनी कवि ने तो आम ही को ब्रह्म बना दिया। ठीक है, 'रसो वै सः', आम में रस की पूर्णता होती है और इसी कारण उसे रसाल कहते हैं।

पैरोडी—पैरोडी भी हास्य का एक सुन्दर रूप है। इसमें अधिक साहित्यिकता रहती है। यह भी विपरीतता का एक प्रकार है। पैरोडी में कभी तो आधी या एक पंक्ति मूल की होती है और शेष भाग उसके अनुकरण में जोड़ा हुआ होता है और कहीं-कहीं केवल शैली तो एकसी होती है किन्तु विषय बदल दिया जाता है और सम्भवतः कुछ हलका भी कर दिया जाता है। 'आगे चले बहुरि रघुराई, ऋष्यमूक पर्वत नियराई' सुनते-सुनते जमाना हो गया। पिछली पंक्ति में यदि कोई कह दे—'पाछे लरिकन धूरि उड़ाई' तो एक सुखद वैविध्य आ जाता है। पण्डित हरिशङ्कर शर्मा ने प्रायः सभी कवियों की शैलियों का हास्यमय अनुकरण किया है। उन्होंने गोस्वामीजी के अनुकरण में कुछ चौपाई मोटर के सम्बन्ध में लिखी हैं—

मंजुल मूर्ति सदा सुख दैनी। समुझि सिहावहिं स्वर्ग नसैनी॥

× × × ×

पौं पौं करत सुहावहिं कैसे। मुनि मख संख बजावहिं जैसे॥
बाहन कुल की परम गुरु, सबको सुलभ न होय।
रघुबर की जिन पै कृपा, ते नर पावहिं सोय॥

एक और पैरोडी दी जाती है। इसमें एक पंक्ति तुलसीदासजी की है और दूसरी पंक्ति ईश्वरीप्रसादजी की।

घन घमंड नभ गरजत घोरा। त्रियाहीन कलपत मन मोरा।
दामिनि दमकि रही घन माहीं। जिमि लीडर की मति थिर नाहीं॥

अभी रेडियो पर जो कवि-सम्मेलन हुआ था उसमें अँग्रेजी

कवि टेनीसन की 'मौड' नाम की कविता के ब्रजभाषा, खड़ी बोली, अवधी, भोजपुरी आदि में बड़े सुन्दर अनुवाद उपस्थित किये गये थे। वे उन-उन बोलियों की प्रकृति के अनुकूल थे।

व्यंग्य—व्यंग्य सोद्देश्य होता है। वह किसी विशेष व्यक्ति या प्रथा या संस्था के प्रति लक्ष्य करके लिखा जाता है। उसमें व्यंजना का भी पुट रहता है। कहीं व्यंग्य में बात स्पष्ट भी कह दी जाती है। देखिये—

हरि सो भलो सो पति सीता को,
बन बन खोजत फिरे बंधु संग,
किये सिंधु बीता को।
× × ×
दूत हाथ तिन्हें लिखि न पठायो,
निगम ज्ञान गीता को।

(भ्रमरगीत सार, ८३)

व्यंग्यों में कहीं-कहीं विपरीत लक्षणा का भी सहारा लेना पड़ता है। नन्ददास की गोपियाँ कुब्जा और कृष्ण पर बड़ा करारा व्यंग्य कसती हैं—

यह नीची पदवी हुती गोपीनाथ कहाय।
अब जदुकुल पावन भयो दासी जूठन खाय॥

परशुराम-लक्ष्मण-संवाद में भी बड़े सुन्दर व्यंग्य मिलते हैं—

कहेउ लषन मुनि सील तुम्हारा। को नहिं जान विदित संसारा॥
मातहि पितहि उरिन भए नीके। गुरु रिन रहा सोच बड़ जी के॥

रावण-अंगद-संवाद में भी बड़े मार्मिक व्यंग्य मिलते हैं। इसमें व्याज निन्दा से काम लिया गया है—

नाक कान बिनु भगिनि निहारी। क्षमा कीन्ह तुम धर्म विचारी॥
लाजवन्त तुम सहज सुभाऊ। निज मुख निज गुन कहसि न काऊ॥

तुलसीदासजी ने रामचन्द्रजी से स्वयं उनके ऊपर व्यंग्य कराया है—

तुम आनन्द करो मृग जाये। कांचन मृग खोजन ये आये॥

उपसंहार—हास्य के प्रकारों का यहाँ दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। हिन्दी साहित्य में हास्य का अपेक्षाकृत अभाव होते हुए भी वह नितान्त दरिद्र नहीं है। हास्य-व्यंग्य गद्य और पद्य दोनों

में प्रचुर मात्रा में है। हमारे आलोचकप्रवर यह कहकर छुट्टी पा जाते हैं कि हिन्दी में हास्य रस की कमी है। इसके कारणों पर रेडियो तक पर वाद-विवाद भी हो जाता है। किन्तु हास्य के साहित्य की खोज और उसका वर्गीकरण नहीं हुआ है। बहुत सा साहित्य आलोचकों के अभाव में उपेक्षित पड़ा है। अभी हमारे हास्य के साहित्य की ऐसी गति है जैसी किसी ऊबड़-खाबड़ जंगल की हो। उसके नमूने लेकर वर्गीकृत किये जाने की आवश्यकता है। सुव्यवस्था के कारण असम्पन्न घर भी सम्पन्न दिखाई देते हैं। जहाँ हमारे कवियों और लेखकों का यह कर्तव्य है कि हास्य के जिन प्रकारों की कमी है उनको पूरा करें, वहाँ आलोचकों का यह धर्म है कि वे व्यापक फतवा न देकर कि हिन्दी में हास्य रस की कमी है, जो वर्तमान साहित्य है उसका उचित मूल्यांकन और वर्गीकरण कर जो न्यूनताएँ हों उनका निश्चित निर्देश दें; नहीं तो यह कहना होगा कि—

गुन ना हिरानो गुनगाहक हिरानो है।

[*'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'* (२१ मार्च १९५४)]

सामाजिक और राजनैतिक

अधिकारी और अधिकृत

सासु, ससुर, गुरु, मातु, पितु, प्रभो चहै सब कोइ।
होनो दूजी ओर को, सुजन सराहिय सोइ॥

(तुलसी दोहावली, ३६१)

अधिकारी और अधिकृत भारत की ही नहीं, वरन् विश्व की समस्या है। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। दुनियाँ के जितने संघर्ष हैं, वे अधिकारों पर ही आधारित हैं। नीति और न्याय अधिकार के जनक, पोषक और सहायक हैं, किन्तु वह अभुक्तमूल की सन्तान की भाँति अपने जनक के जीवन पर ही आघात करता है। जितने अत्याचार और अनाचार अधिकार के नाम पर होते हैं, उतने अन्याय अनधिकारी भी करने में सकुचाते हैं। नामी चोर मारा जाता है और नामी साह कमा खाता है। अधिकारी अधिकृत के पक्ष को न देखकर अपने अधिकार से पूरा-पूरा लाभ उठाने के नाम पर प्रायः न्याय की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाता है। अधिकृत के पक्ष में अधिकार को छोड़ देना तो विरले साहसी लोगों का ही काम है, किन्तु अपने को अधिकृत की स्थिति में रखकर उसके दृष्टिकोण को समझने का भी कष्ट नहीं किया जाता है। अधिकृत लोग भी प्रायः दूसरी ओर की बात नहीं देखते हैं, किन्तु वे किसी अंश में क्षम्य कहे जा सकते हैं क्योंकि वे आर्त और दुःखी होते हैं। वे हमारी दया के पात्र हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

अति आरत, अति स्वारथी, अति दीन दुखारी।
इनको बिलग न मानिए, बोलहिं न बिचारी॥

(विनय पत्रिका, ३४)

प्रायः सभी लोग कभी न कभी और किसी न किसी अवस्था में अधिकृत की स्थिति में रहे होंगे, किन्तु अधिकार प्राप्त करते ही विस्मृति की बाढ़ अधिकृत दशा के क्षीणातिक्षीण चिन्हों को भी धो-बहा देती है। अधिकारी अधिकृत की अवस्था को समझ सकें, इसी दृष्टि से हम अधिकारी और अधिकृत की समस्या पर विचार करेंगे। पहले हम राजनीतिक क्षेत्र को लेंगे।

देश का देश पर अधिकार—अधिकारी देश अधिकृत देशों को अपने स्वार्थ के ही कारण दबाये रखना चाहते हैं, किन्तु उसे एक भव्य रूप देने के लिये अधिकृत के हितों का बहाना ढूँढ़ निकालते हैं। गोरी जातियों के नैतिक भार की बात अब जरा धीमी पड़ गई है, किन्तु कुछ दिनों इसका बड़ा प्रचार रहा। अँग्रेज लोग भारत को लोकानुकम्पया ही नहीं छोड़ना चाहते थे—कभी भारतीयों की स्वराज्य के लिये अयोग्यता का बहाना लेते, तो कभी साम्प्रदायिक अनैक्य का। ईश्वर को बहुत-बहुत धन्यवाद है कि ब्रिटेन और फ्रांस के सम्बन्ध में 'सबको सन्मति दे भगवान्' की प्रार्थना स्वीकृत हो गई। हाँ, ब्रिटेन के भारत छोड़ने का हमें पाकिस्तान के रूप में भारी मूल्य चुकाना पड़ा। इसका भी विशेष गम न था; भाई-भाइयों में बँटवारा होता है, किन्तु फिर भी भाई-भाई बने रहते हैं। कहावत है कि 'प्यारा पूत पड़ोसी बराबर'; किन्तु पड़ोसी पड़ोसी न कहकर 'दुश्मन' कहे तब क्या इलाज ! 'गतं न शोचामि' कहकर सन्तोष करना पड़ता है। तथा-कथित आजाद कश्मीर रेडियो भारत पर हत्या और अत्याचार के आरोपों की प्रत्येक रात्रि को पुनरावृत्ति करता है। रेडियो उनका, जबान उनकी। चाहे जितना मिथ्याभाषण करें उनको अधिकार है—'मुखमस्तीतिवक्तव्यं'। वे भी इस झूठ का राजनीतिक कारणों से आश्रय लेते हैं कि उनके धर्मबन्धु लोग भारत की ओर न झुकें और यदि कभी मतदान हो तो वे पाकिस्तान के पक्ष में मत दें। वे लोग अपने देश की गुलामी और बेबसी के लिये सरद आहें भरते हैं। किन्तु आक्रमण के समय वे भूल गये थे कि देश उनका है। उसको उन्होंने मुक्ति का भव्य नाम दिया। वे लोग भारत की धर्मनिरपेक्ष नीति को एक विडम्बना कहते हैं, किन्तु उसकी वास्तविक दृढ़ता की ओर ध्यान नहीं देते। स्वार्थ मनुष्य को अन्धा बना देता है।

भारत में फ्रांस को सुबुद्धि आ गई है। ट्यूनिसिया का मामला सुलझाव पर आता जा रहा है, अलजीरिया का मामला अभी अटका हुआ है। मालूम नहीं पुर्तगाल को कब सुबुद्धि आयेगी। अधिकार के नाम पर ही वह अपने उपनिवेशवाद का पोषण कर रहा है। नैतिकता और मानवता के अधिकारों को

वह स्वीकार नहीं करता। राजनीति के खोखले अधिकारों को वह मान्यता देता है। भारत की समझौते और हृदय-परिवर्तन की नीति से वह लाभ उठाता है। उदाहरण से शिक्षा ग्रहण नहीं करता। बन्दर की भाँति अधिकार के शव को वह चिपटाये हुए है, किन्तु कभी तो उसे छोड़ना ही पड़ेगा।

बहुमत का अधिकार—देश के भीतर भी अधिकारी-अधिकृत का प्रश्न रहता है। बहुमतवाला दल शासन में होता है। वह अपने ही सिद्धान्तों को जनता-जनार्दन की आवाज समझता है। दूसरे दलों की ईमानदारी और देशभक्ति पर भी सन्देह किया जाता है। बहुमत का अधिकार कभी-कभी दूसरे पक्ष के सत्य की उपेक्षा कराता है। किन्तु धर्म-नीति यही है कि दूसरे दलों के सत्य को मान्यता दी जाय। मतदान का बहुबल बाहुबल ही होता है। यद्यपि अधिकांश में बहुमत ठीक होता है, तथापि वह ठीक ही हो, इसका निश्चित आश्वासन नहीं। बहुमत के अतिरिक्त हमारे पास सत्य की कसौटी भी नहीं, किन्तु हमारे नेताओं को चाहिये कि वे निरपेक्ष भाव से दूसरों की बात में जो सत्य के कण हों, उनको स्वयं ही प्रकाश में लावें। दूसरे दल के लोग प्रायः सत्य को अतिरञ्जित कर देते हैं, अथवा शासक दल की थोड़ी सी भूल से भारी लाभ उठाना चाहते हैं। यह ठीक होते हुए भी यह बात नहीं कि सत्य उनके पक्ष में थोड़े बहुत अंश में भी न हो। सुशासित देश में न तो बहुमत वाले दल को अपने बहुमत के अधिकार से लाभ उठाना चाहिये और न अल्पमत या अल्पसंख्यक दल को अपनी क्षीणता और दुर्बलता का अतिरंजित रूप दिखाकर विशेषाधिकारों के नाम पर बहुसंख्यक दल को आतंकित करना चाहिये।

ईश्वर को धन्यवाद है कि हमारे देश के दलों में विस्फोटक मतभेद नहीं है। वे एक-दूसरे को समझते हैं और समय पर सहयोग करने को तैयार रहते हैं। शासक दल भी दूसरे दलों के सत्य से नितान्त बेखबर नहीं है, किन्तु एक-दूसरे का पक्ष समझने के सक्रिय प्रयत्न नहीं हो रहे हैं। व्यक्ति से दल बड़ा है और दल से देश बड़ा है, इस बात का लोग कम ध्यान रखते हैं। कभी-कभी मिथ्या स्वाभिमान भी सत्य की स्वीकृति में बाधक होता है।

राज्य और व्यक्ति—यद्यपि राज्य अपने शासनाधिकार से

व्यक्ति को शासित कर सकता है, तथापि शासनाधिकार की सीमाएँ हैं और व्यक्ति की स्वतन्त्रता की भी सीमाएँ हैं। शासनाधिकार को वैयक्तिक स्वतन्त्रता का एक उचित सीमा के भीतर मान करना चाहिये और व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्रता को सीमित रखकर शासनाधिकार की रक्षा करनी चाहिये। कुछ राज्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता का बिलकुल ध्यान नहीं रखते। वे अपने अधिकार के बल पर व्यक्ति से उसकी इच्छा के विरुद्ध भी काम कराने को तैयार रहते हैं। (लड़ाई के दिनों में अनिवार्य भर्ती के समय वैयक्तिक स्वतन्त्रता का प्रश्न उठता है। अखबारों पर सेंसर लगाने में भी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का प्रश्न आता है।) व्यक्ति भी कभी-कभी अपनी स्वतन्त्रता के अधिकार का दुरुपयोग करते हुए देश-हित का खयाल नहीं रखते हैं। करों के सम्बन्ध में भी राज्य और व्यक्ति के अधिकारों का प्रश्न आता है। व्यक्ति को स्वार्जित धन पर पूर्ण अधिकार है। किन्तु यदि सरकार न ले तो शासन-प्रबन्ध कहाँ से चले? और यदि शासन-प्रबन्ध के नाम पर व्यक्ति की सारी सम्पत्ति हड़प ले तो व्यक्ति को क्या लाभ?

यहाँ पर भी अधिकारी और अधिकृत का प्रश्न आता है। इस क्षेत्र में भी एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की आवश्यकता है। नीति और न्याय का पक्ष प्रबल होना चाहिये, न बहुमत के सामान्य अधिकार का और न अल्पसंख्यकों के विशेषाधिकार का। यदि राज्य और व्यक्ति अपने-अपने कर्तव्यों का भी ध्यान रखें तो यह प्रश्न इतना उग्र न होने पाये। व्यक्ति-व्यक्ति के अधिकारों की सीमाएँ हैं; व्यक्ति और राज्य के अधिकारों की भी सीमाएँ हैं और राज्य-राज्य की सलाह और सहायता की भी परिमिति है। इन सीमाओं की स्वीकृति शान्ति की ओर अग्रसर होना है। कभी-कभी सहायता के नाम पर स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया जाता है। सहायक को कुछ अधिकार अवश्य मिल जाते हैं, इस बात का ध्यान सहायता लेने वाले को रखना चाहिये; किन्तु सहायता देने वाले का भी यह नैतिक कर्तव्य है कि वह सहायता के आधार पर प्राप्त अधिकारों की सीमा का अतिक्रमण न करे। अमरीका आदि सम्पन्न देशों को इस नीति का ध्यान रखना आवश्यक है।

जाति और वर्णभेद—गोरी और रंगीन जातियों का भेद तो कुछ उग्रता के साथ यूरोपीय देशों में चल ही रहा है। वहाँ तो वर्ण-भेद राजनीतिक अधिकारों में भी भेद डालता है। भारत में राजनीतिक अधिकारों में तो वर्ण के आधार पर आजकल कोई भेद नहीं है, किन्तु सामाजिक क्षेत्रों में यह भेद अब भी बना हुआ है। इस भेद को बनाये रखने के लिये कई आश्रय पकड़े जाते हैं। कभी तो कहा जाता है कि उनका रहन-सहन इतना अच्छा नहीं कि बराबरी का व्यवहार किया जाय (किन्तु इसके लिये यह नहीं सोचा जाता कि रहन-सहन के अच्छे न होने का उत्तरदायित्व हम ही तथाकथित उच्च वर्णों पर है); कभी कर्मवाद का सहारा लिया जाता है और तथाकथित निम्न जातियों के सम्बन्ध में अब भी कहा जाता है कि पिछले जन्मों के फल के कारण उन्होंने नीच योनि में जन्म लिया है, अब उस व्यवस्था को उन्हें सहर्ष स्वीकार करना चाहिये। किन्तु ऐसे लोग जब बीमार पड़ते हैं, तब वे कर्म-वाद के आधार पर सन्तोष नहीं करते और डाक्टरी सहायता के लिये व्यग्र हो उठते हैं। जिस प्रकार रोगी को डाक्टरी सहायता देना हमारा कर्तव्य है, वैसे ही दलित वर्गों को ऊँचा उठाना भी हमारा कर्तव्य है। जो लोग उच्च वर्ग के हैं वे निम्न वर्ग के लोगों की कठिनाइयों और उनके द्वारा सहे जाने वाले अपमानों का ठीक अनुमान नहीं कर सकते हैं—'जाके पाँय न फटी बिवाई, सो का जाने पीर पराई।' यहाँ भी दूसरी ओर की बात जानने की आवश्यकता है।

उच्च वर्ण के लोग समाज से प्राप्त उच्चता के अधिकारों को नहीं छोड़ना चाहते हैं। वैसे चाहे होटलों में मांस-मदिरा का सेवन करलें, किन्तु नीच वर्ण के यहाँ खाना नहीं खायेंगे और पान और पानी तक न स्वीकार करेंगे। चोरी, जुआ, व्यभिचार आदि इतने बड़े पाप नहीं समझे जाते जितने जाति-पाँति के नियमों के उल्लंघन।। जूतों से स्थान अपवित्र नहीं होता, किन्तु किसी के रोटी रख देने से स्थान में छूत लग जाती है। उच्च वर्ग के लोगों को अधिकार है कि तथाकथित नीच वर्ग के लोगों को डाँट सकें। इस अधिकार को वे नहीं छोड़ना चाहते। दूसरों को अपमानित करने को ही वे अपनी उच्चता का प्रमाणपत्र समझते हैं। ऐसे

लोगों के खिलाफ कानूनी अधिकार प्राप्त करना उचित नहीं है। कानूनी अधिकार से प्राप्त समता में वह आनन्द नहीं, जो प्रेम-प्रदत्त समता में है। हमको उस प्रेम की समता का उपदेश और प्रचार द्वारा प्रयत्न करना चाहिये।

यद्यपि आज ऐसा समय आ गया है जब नौकर मालिक से सगर्व कह सकता है—'तुमसे हमको बहुत हैं हमसे तुमको नाहिं' तथापि अब भी मालिक की स्थिति नौकर से कुछ ऊँची है। नौकर की स्थिति पुराने जमाने में भी कुछ अच्छी न थी। इसका प्रमाण हमको नीचे के श्लोक में मिलता है जो नौकर को ही लक्ष्य करके लिखा गया मालूम होता है—

मौनान्मूकः प्रवचनपटुश्चाटुलो जल्पको वा
धृष्टः पार्श्वे वसति च तदा दूरतश्चा प्रगल्भः।
शान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः॥

नौकर यदि मौन रहे अर्थात् ज्यादे न बोले तो उससे कहा जाता है कि गूंगा है क्या; और यदि बातचीत में होशियार हो तो उसे खुशामदी या बातून कहा जाता है। यदि बिलकुल पास रहे तो कहा जाता है कि बड़ा ढीट है, हरदम सिर पर चढ़ा रहता है; यदि दूर रहे तो कहा जाता है कि अनुत्साही है, कामचोर है। यदि वह शान्त रहे, तो डरपोक कहा जाता है और यदि बात को न सहे, तो कहा जाता है कि नीच है, जवाब पर जवाब देता है। सेवा-धर्म बड़ा कठिन है, योगियों के लिये भी अगम्य है।

वास्तव में नौकर को मालिक से भी अधिक संयमी और सन्तुलनशील बनना पड़ता है। उत्तर देने वाले नौकर को इतना ही खतरनाक बताया गया है जितना कि 'ससर्पे गृहे वासो'। बेचारे नौकर को सच्चे योगी और सन्त की भाँति सुख-दुःख, मान, अपमान, शीतोष्णादि द्वन्द्वों से ऊपर उठना पड़ता है—'द्वन्द्वातीतो विमत्सरः'। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज जिस सन्त-स्वभाव को 'श्री रघुनाथ कृपालु कृपा ते' प्राप्त करना चाहते थे, वह बेचारे नौकर को सहज में ही प्राप्त हो जाता है। अन्तर केवल इतना रहता है कि ज्ञानी और भक्त ज्ञान द्वारा 'परुष वचन

अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो। विगत मान सम सीतल मन........परिहर देह जनित चिंता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो॥' (विनय पत्रिका १७२) की स्थिति प्राप्त करता है और नौकर को मजबूरी और 'सम सीतल मन' तो नहीं कभी-कभी सन्तप्त मन से इसे प्राप्त करना पड़ता है। नौकर को भी वेदान्तियों की भाँति यथा-लाभ-संतोष का व्रत धारण करना पड़ता है, किन्तु उसके लिये 'मजबूरी का नाम सब्र है' लोकोक्ति अधिक रूप में चरितार्थ होती है। कभी-कभी उसका सन्तप्त मन अर्द्ध-अस्फुटित शब्दों में अपनी अभिव्यक्ति भी चाहने या करने लगता है। तभी वह 'कृतघ्न', 'बेअदब', 'गुस्ताख' और 'नमकहराम' आदि पदवियों से विभूषित किया जाता है।

सारे नियम और सदाचार की सारी पाबन्दियाँ नौकर से अपेक्षित होती हैं। उससे अपने से अधिक बुद्धिमान और संयमी होने की आशा की जाती है। उसकी भूलें अक्षम्य समझी जाती हैं। हुक्म और निर्धारित कार्यक्रम की सौमित्र-रेखा से अणु मात्र भी विचलित होने की स्वतन्त्रता उसे नहीं रहती। जिस काम को वह स्वयं करता है, वही गैर-जरूरी हो जाता है। जरूरी और गैर-जरूरी के मानदण्ड हर वक्त बदलते रहते हैं। उसका एक स्वामी नहीं होता; घर का छोटा सा व्यक्ति भी उसका स्वामी होता है और सबके काम जरूरी होते हैं। आदेशों के संघर्ष में वह बेचारा किंकर्तव्यविमूढ़ होकर रह जाता है। मालिक का आतंक इतना छाया रहता है कि मुँह की बात मुँह में ही रह जाती है। स्पष्ट न कहने के लिये वह दोषी ठहराया जाता है, किन्तु मालिक यह नहीं सोचते कि यह उनकी डाँट-फटकार का दोष है कि वह निर्भीकता से अपनी बात नहीं कह पाता है। यदि वह साहस बटोरकर अपने दुःख-सुख की बात कहता है या कभी उद्दण्डता से जवाब दे देता है तो उसे ही दोषी ठहराया जाता है। इसमें भी मालिक का ही दोष है।

मालिकों को चाहिये कि वे कामों के बढ़ाने में गुणन-क्रिया का जो सदा अभ्यास करते रहते हैं, उसे छोड़ें। पर्व दिन आते हैं, तब बेचारे नौकर पर इतना कार्य-भार बढ़ जाता है कि पर्व उसके लिये अभिशाप बन जाता है। मालिकों को चाहिये कि वे

कभी-कभी गुणन-क्रिया का पाठ भूलकर भाग और बाकी का भी पाठ पढ़ा करें। स्वयं ही नौकर का हाथ बटाया करें, जबान चलाने के लिये हाथ भी चलाया करें, नौकर को मारने के लिये नहीं, काम करने के लिये। मैं यह नहीं कहता कि नौकर को डाँटा-फटकारा न जाय। अवश्य डाँटा-फटकारा जाय किन्तु अपराध के अनुपात में। डाँटे तो एक ही आदमी, न कि सारा घर का घर उसके पीछे पड़ जाय। एक ही बात को बार-बार घंटे भर तक कहने में कुछ अधिक बल नहीं आता, वरन् उसकी प्रतिक्रिया नौकर पर बुरी होती है। नौकर पर तो बुरी होती ही है, किन्तु नौकर के सुधारने के विफल उद्योग में अपने में कर्कशता, कठोरता, प्रगल्भता और दम्भ के बीज बोकर अपने तथा बाल-बच्चों के स्वभाव को खराब कर लेना होता है। इसके अतिरिक्त हरदम नौकर पर चिल्लाते रहने में घर के वातावरण का स्वर-साम्य दूषित होकर कलहपूर्ण सा लगने लगता है। लड़के-बच्चों में मिथ्याधिकार और अनुचित श्रेष्ठता की भावना आ जाती है। इसमें नौकर का नहीं, अपना ही नुकसान होता है। कलहपूर्ण, अशान्त वातावरण में घर की सारी सांस्कृतिकता और कलामयता नष्ट हो जाती है और वित्तोपार्जन के कार्यकौशल में अन्तर पड़ने लगता है।

मैं यह नहीं कहता कि नौकर निर्दोष, दूध के धोये होते हैं। नौकर चोरी करते हैं, झूठ बोलते हैं (यदि मालिक लोग डाँट-फटकार का आतंक कम कर दें तो नौकर लोग कम झूठ बोलें) और मालिक को सौदा-सुल्फ खरीदने में धोखा भी देते हैं। मालिकों को चाहिये कि वे बड़ी-बड़ी बातों पर अवश्य ध्यान दें। वे सचेत भी रहें, किन्तु छोटी-छोटी बातों में संदेह-बुद्धि प्रकट करके नौकर के स्वाभिमान को आघात न पहुँचायें। मालिक यह भी सोच लिया करें कि वे स्वयं कितने ईमानदार हैं। बड़े आदमी रुपये-पैसे की तो कम चोरी करते हैं किन्तु सरकारी चीजों से काफी और अनुचित लाभ उठाते हैं। निजी काम के लिये दौरे का अवसर निकालते हैं, सरकारी मोटरों में वन-भोज को जाते हैं और कभी-कभी गंगा-स्नान भी कर आते हैं। अपना काम तो ईमानदारी से पचास प्रतिशत लोग भी नहीं करते हैं। जिन बाँदों

से वे अपने काम को तोलते हैं, उन्हीं बाँटों से नौकर के कामों को तोलें। मालिक और नौकर सापेक्ष शब्द हैं। मालिक भी दूसरों के नौकर होते हैं। उन्हें सदा यह ध्यान रखना चाहिये कि 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'

नौकरों को भी यह समझना चाहिये कि नित्य मालिक ढूँढने के प्रयोग करना ठीक नहीं। 'दूर के ढोल सुहावने लगते हैं।' 'घर-घर मिट्टी के चूल्हे हैं।' जिसके यहाँ जितने दिन वे अधिक रह लेते हैं उतने ही वे मालिक की प्रकृति से परिचित हो जाते हैं और मालिक उनकी प्रकृति से। मालिक भी मनुष्य होते हैं, उनको भी नौकर के प्रति मोह है। स्वामी और नौकर का सम्बन्ध पारस्परिक आदान-प्रदान का है। गोस्वामीजी तो दास्य-भाव की ही भक्ति चाहते हैं किन्तु उनके स्वामी भी करुणानिधान हैं। हमको भी करुणानिधान बनना चाहिये। श्री रामचन्द्रजी ने अपने को हनुमानजी का ऋणी कहा था।

पति-पत्नी—पति-पत्नी का प्रेम और सौहार्द का सम्बन्ध है, किन्तु इसमें भी अधिकारी और अधिकृत का प्रश्न उठ खड़ा होता है और पल्ला पतिदेव का ही भारी रहता है। सदाचार के सारे बन्धन स्त्रियों के लिये ही होते हैं। बहुत सी स्त्रियाँ बेचारी रोटी-कपड़े के नौकर की तरह काम करती हैं। पति के दाम्पत्य अधिकार और बच्चों के रोने के वात्सल्य अधिकार की दो रज्जुओं से मंथित होकर रई की भाँति वह इधर से उधर घूमती रहती हैं। गुप्तजी ने ठीक ही कहा है—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥

आँचल का दूध वात्सल्य का प्रतीक है और आँखों का पानी दाम्पत्य-प्रेम का। दोनों ही 'सहज अपावन नारि' (?) को पावनता प्रदान करते हैं। स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध पारस्परिक आत्मसमर्पण का है, अधिकारी और अधिकृत का नहीं। यह पुरुषों का स्वार्थ है कि इस पावन सम्बन्ध को अधिकारी और अधिकृत का सम्बन्ध बना लिया है। समाज के कल्याण और विकास के लिये वे दोनों सहयोग के बन्धन में बँधते हैं। दोनों ही एक-दूसरे को नियंत्रित रखने का समान अधिकार रखते हैं।

यह नियंत्रण प्रेम का नियंत्रण है--बल का नहीं। दोनों एक-दूसरे के आदर्शों और कठिनाइयों को समझें और उसके अनुकूल अपना जीवन ढालें तो भू पर स्वर्ग उतर सकता है। यदि नीचे लिखी बातें हों तो गृहस्थाश्रम धन्य बन जाता है—

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः
कान्ता मनोहारिणी,
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषिति रतिः
सेवारताः सेवकाः।
आतिथ्यं सुरपूजनं प्रतिदिनं
मिष्टान्नपानं गृहे,
साधोः संग उपासना च सततं
धन्यो गृहस्थाश्रमः॥

अर्थात् जहाँ सुन्दर आनन्दपूर्ण घर हो, बुद्धिमान लड़के हों और सुन्दर स्त्री हो (कहीं-कहीं 'प्रियवादिनी' पाठ है), अच्छे मित्र हों, ईमानदारी से कमाया हुआ धन हो, अपनी स्त्री से प्रेम हो, नौकर सेवापरायण हों (नौकर को भी अच्छे घर में स्थान दिया गया है, उसको सेवापरायण बनाना मालिक के सद्व्यवहार पर रहता है), घर में अतिथि-सत्कार हो, देव-पूजन होता हो (पर्वादि मनाये जाते हों) और नित्य मिष्टान्नपान होता हो (उन दिनों शायद इतने मधुमेही लोग न हों!), साधुओं की संगति हो और हमेशा उपासना-भजन-कीर्तनादि चलता रहे, वहाँ का गृहस्थाश्रम धन्य है।

पिता-पुत्र—सन्तान किसी सिलसिले के जारी रहने को कहते हैं। पिता और पुत्र का सम्बन्ध समाज की स्थिति और उन्नति के क्रम का प्रतीक है। पुत्र प्रगतिशील है तो पिता उस प्रगतिशीलता को सन्तुलित रखता है। पिता पुत्रों पर अपना स्वाभाविक शासनाधिकार समझते हैं। पिता को पुत्रों की शिक्षा और भरण-पोषण का अधिकार है तो शासन-अधिकार भी होना तर्कसम्मत है; किन्तु यह अधिकार अधिकारी और अधिकृत के सम्बन्ध में नहीं बदल जाना चाहिये। पिता पुत्र का शासन अपने हित में नहीं पुत्र के हित में करे और जैसे-जैसे पुत्र बड़ा होता जाय, वह हित-अनहित की परख को पुत्र पर छोड़ता जाय। पुत्र प्रायः जवानी की उमंग

में इस अधिकार का दुरुपयोग कर बैठते हैं, इसलिये पिता को चाहिये कि मित्रवत् पुत्र को सन्मार्ग दिखाता रहे। पुत्रों को भी अपने माता-पिताओं के अनुभव, बुद्धि और सदाशयता पर विश्वास करना चाहिये। 'कुपुत्रो जायते क्वचिदपि कुमाता न भवति।' सन्तान को यह चाहिये कि जितना ऊपर से अधिकार ढीला किया जाय उतना वे आत्मसंयम से काम लें। पिता और पुत्र का भय का सम्बन्ध न हो, प्रेम का सम्बन्ध हो। पिताओं को चाहिये कि वे अपने पुत्रों को आतंकित न रखें; उनको भय की प्रीति न सिखायँ वरन् प्रीति का भय सिखायँ। लड़कों के स्वाभिमान, उनकी अपनी स्फूर्ति से कार्य करने की क्षमता और हिताहित-चिन्तन की योग्यता को उचित स्वतन्त्रता देते हुए बढ़ायँ। अधिक बंधन में रखने की प्रतिक्रिया भी बुरी होती है और ये सद्गुण भी नष्ट हो जाते हैं।

सास-बहू—सास-बहू का सम्बन्ध पिता-पुत्र के सम्बन्ध से कुछ भिन्न होता है। पुत्र घर का अंग जन्म से ही होता है और बहू विवाह से घर का अंग बन जाती है। वह अपने घर का दुलार-प्यार छोड़कर पति के घर का अंग बनने आती है। इसलिये पुत्र से भी अधिक वह दया और वात्सल्य की अधिकारिणी बननी चाहिये; किन्तु होता उल्टा है। स्वभावतः अवस्था में बड़ी होने के कारण सास अधिक सेवा की अधिकारिणी है। सास का घर का स्वामित्व भी अधिक कालव्यापी है, किन्तु दुर्भाग्यवश सासें उस अधिकार को चिरस्थायी समझ बैठती हैं। उनकी आयु क्षीण होती जाती है। यह अधिकार सदा उनके पास नहीं रहेगा। वे तुलसीदासजी से शिक्षा नहीं ग्रहण करतीं— 'अन्तहु तोहि तजेंगे पामर तू काहे न तज अबही तें।' सास-बहू में अधिकार लिप्सा तो इतना संघर्ष का कारण नहीं होती, किन्तु सासों को पुत्र के प्रेम से वंचित होजाने की आशंका सताने लगती है। यह शंका बहुत अंश में तो निर्मूल होती है और यदि वास्तविक भी हो तो उसकी परवाह न करनी चाहिये। इसी आशंका से सास-ससुर अपना-अपना अधिकार जमाये रखना चाहते हैं। जितना अधिकार चाहा जाता है, उतना ही अधिकार कम मिलता है और जितना अधिकार छोड़ा जाता है उतना ही

अधिक मिलता है। पुत्र-पुत्रवधू को भी चाहिये कि वे माता-पिता को सम्मान से रखें, उनको स्वयं ही अधिकार सौंपते रहें और बड़ों को चाहिये कि वे अधिकार का क्रमशः विसर्जन करते जायँ। पिता और पुत्र, माता और पुत्र, सास और बहू दोनों ही पक्ष के लोग त्याग के साथ भोग की शिक्षा लें; दोनों एक-दूसरे की कठिनाइयों को समझें और प्रेम-पूर्वक गार्हस्थ्य-धर्म का पालन करें।

पुत्र और पुत्रवधू अपनी प्रगतिशीलता को अपने बड़े-बूढ़ों पर न लादें। वे सोचें कि जिस पर उन्होंने सारा जीवन व्यतीत किया है, उसमें वे आमूल-चूल परिवर्तन नहीं कर सकते हैं। पुत्र और पुत्रवधू से यह अपेक्षा की जाती है कि वे यथासम्भव उनके आदर्शों का पालन करें और कम से कम उनके भावों को आघात न पहुँचायें। इसी के साथ बड़ों को चाहिये कि वे सोचें कि दुनिया परिवर्तनशील है। वे जिस संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं वह भी ठेठ वैदिक या त्रेतायुग की संस्कृति नहीं है। युवक-युवतियों का समय के प्रवाह में पड़ना स्वाभाविक है। किन्तु वे इतने न बह जायँ कि सारी जातीयता खो बैठें और अपना अस्तित्व ही मिटा दें। गति के साथ संयम और स्थिति-रक्षा दोनों ही आवश्यक हैं। प्राचीन स्थिति की रक्षा करते हुए जो गति होती है उसी में तारतम्य रहता है, नहीं तो उच्छृङ्खलता आ जाती है।

अन्य क्षेत्र—व्यापारिक और औद्योगिक क्षेत्रों में भी यह प्रश्न उतना ही गम्भीर है, जितना कि और क्षेत्रों में। मिल-मालिक और मजदूर की समस्या चिरकाल से चली आ रही है। समाज में उत्पादन के लिये दोनों ही आवश्यक हैं। दोनों का अपना-अपना बल है। दोनों पक्ष के लोग एक-दूसरे को अपने पर आश्रित समझते हैं किन्तु दूसरे के आभार और योग के महत्व को भूल जाते हैं। यदि दोनों पक्ष देश और जनता के लिये अपने उत्तर-दायित्व का अनुभव करें तो संघर्ष किसी मात्रा में कम हो सकता है। मिल-मालिकों को त्याग के साथ भोग की शिक्षा लेनी चाहिये। मजदूर अपनी गरज से काम करने आते हैं, किन्तु उनकी गरज का लाभ उठाना या उसके कारण दबाना पाप है। गरज मिल-मालिक की भी उतनी है जितनी कि मजदूर की। दूसरे की

गरज का अनुचित लाभ उठाना मानवता के विरुद्ध है। वस्तुओं के खरीदने अथवा रिक्शा वाले की मजदूरी देने में उनकी आपस की प्रतिद्वंद्विता से लाभ उठाना एक दूषित मनोवृत्ति है।

सन्त विनोबा का कहना है कि शुद्ध खादी के लिये यही आवश्यक नहीं कि वह हाथ की कती और बुनी हो, वरन् उसकी उचित मजदूरी भी दी गई हो। हम दूसरों की बेबसी से लाभ उठाकर मजदूर या नौकर की मजदूरी कम करके या छोटे दूकानदार से लड़-झगड़कर दो-चार पैसे बचा लें और दूसरे का जी दुखायें या उसे कठिनाई में डालें तो इसको न्याय नहीं कहा जायगा। इसके अतिरिक्त हमको सदा ध्यान रखना चाहिये कि धन की अपेक्षा जन का अधिक महत्व है।

मैं आर्यों का आदर्श बताने आया।
जन सन्मुख धन को तुच्छ बताने आया॥
(साकेत, अष्टम सर्ग)

[*'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'* (५ व १६ दिसम्बर, १६५४)]

गांधीवाद और भारतीय परम्परा

गांधीवाद जगत में आया ले मानवता का नव मान,
सत्य अहिंसा से मनुजोचित नव संस्कृति करने निर्माण।
गांधीवाद हमें जीवन पर देता अन्तर्गत विश्वास,
मानव की निस्सीम शक्ति का उसमें मिलता चिर आभास।

—पन्त

प्राचीन की आधार-शिला पर ही नवीन के भव्य भवन का निर्माण होता है। कोई विचार नवीन नहीं होते, उनकी जड़ें प्राचीन विचारधारा में निहित रहती हैं। समय और परिस्थितियों की क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण विचारों का विकास होता है। विकास में अव्यक्त बात व्यक्त की जाती है। सच्चा विचारक और द्रष्टा समाज के बिखरे हुए भावों को एकत्र कर उनको रूप-रेखा प्रदान करता है। उसकी मौलिकता इसी में रहती है कि उसकी सूक्ष्म दृष्टि समय की गति को रेडियो के ग्राहक यन्त्र की भाँति पकड़ लेती है और रेडियो के ध्वनि-विस्तारक यन्त्र की भाँति वह उसको मुखरित कर देता है। नेता जनता-जनार्दन का मुख होता है। गांधीजी भारतीय परम्परा में पले थे, उनका घराना एक धर्मनिष्ठ वैष्णव घराना था। गांधीजी भारतीय संस्कृति में पूर्णतया दीक्षित थे। वे भारत की धार्मिक प्रकृति से परिचित थे और समय की आवश्यकताओं से उनका हृदय प्रतिस्पन्दित होता था। उन दिनों असमानताओं का साम्राज्य था। हमारे जातीय जीवन में अवर्ण-सवर्ण की असमानताएँ थीं और गोरे-कालों का भी भेदभाव था। गोरे-काले की समस्या उग्र रूप से उनके सामने आयी थी और उन्होंने उसके कारण कष्ट भी सहे थे। वे सच्चे वैष्णव जन थे और पराई पीर को जानते थे। 'वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीड़ पराई जाणे रे।' उनका हृदय वैसे ही सहानुभूतिशील था, फिर उनके पैरों में भी बिवाई फट चुकी थी। उनके लिये ऐसी बात न थी कि कहा जाय 'जाके पाँय न फटी बिवाई, सो का जाने पीर पराई।' गांधीजी अपने समय की समस्याओं से पूर्णतया परिचित

थे। वे परिचित ही नहीं थे किन्तु पर-दुःखकातरता ने उनको उन समस्याओं के हल करने के अर्थ पूरी-पूरी संलग्नता और तत्परता प्रदान करदी थी। उनके सिद्धान्तों की रूप-रेखा दक्षिण अफ्रीका में ही तैयार हो चुकी थी। 'हारिये न हिम्मत बिसारिये न राम' की साहसिकता लेकर वे भारतीय राजनीति में आये।

वे आन्दोलन अवश्य करते थे किन्तु उनका आन्दोलन सत्य और अहिंसा पर अवलम्बित था। 'सत्यमेव जयते' और 'अहिंसा परमो धर्मः' के पाठ को उन्होंने औपचारिक रूप से ही नहीं पढ़ा था वरन् उसको हृदयङ्गम करके अपने जीवन और भारतीय राजनीति का मूलमंत्र बनाया था। उन्होंने राजनीति को कूटनीति न बनाकर धर्मनीति का रूप दिया था। जिस न्याय की तुला से उन्होंने विदेशी शासन को तोला था उसी से भारतीय समाज की विषमताओं को भी तोला। तभी उन्होंने अछूतोद्धार को ब्रिटिश शासन-मुक्ति से भी अधिक महत्व दिया। रंग की विषमता यदि हमको मर्मभेदिनी प्रतीत होती है तो वर्ण की विषमता अवर्णों को भी वैसी ही प्रतीत होती होगी। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' गीता प्रतिपादित उनकी आत्मौपम्य दृष्टि ने उनको हरिजनों का पक्ष लेने को प्रेरित किया। चरित्र-निर्माण को उन्होंने राष्ट्र-निर्माण का मुख्य अंग समझा। महात्मा गांधी ने राष्ट्र-निर्माण और चरित्र-निर्माण के अर्थ एकादश व्रतों के पालन पर आग्रह किया। वे व्रत इस प्रकार हैं :—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य असंग्रह:
शरीरश्रम अस्वादः सर्वत्र भय वर्जनः
सर्वधर्मी समानत्वं स्वदेशी स्पर्शभावना
हि एकादश सेवा विनम्रत्वे व्रत निश्चये।

इनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह योगशास्त्र में वर्णित यम हैं।

'अहिंसा सत्यमस्तेय ब्रह्मचर्याऽपरिग्रहाः यमाः।'

(योग सूत्र सा० पा० ३०)

जैनियों में ये महाव्रत के नाम से विख्यात हैं और बौद्धों में ये पंचशील कहलाते हैं।

इन व्रतों की प्रतिष्ठा पृथक रूप से भी शास्त्रों में मिलती है।

अहिंसा की महिमा जैन, बौद्ध, वैष्णव सभी सम्प्रदायों में है। अहिंसा को परम धर्म कहा है। अहिंसा कर्म की ही न होनी चाहिये वरन् मन और वाणी की भी। तभी क्षमा और प्रिय भाषण का इतना महत्व है। 'जीओ और जीने दो' भारतीय राजनीति का मूलमंत्र रहा है। ठाकुर कवि ने कहा है "विध के बनाये जीव जेते हैं, जहाँ के तहाँ खेलत फिरत तिन्हें खेलन फिरन देव।"

'सत्यमेव जयते नानृतम्' की बात सभी जानते हैं। कबीर ने भी कहा है—'साँच बरोबर तप नहीं झूठ बरोबर पाप, जाके हृदय साँच है ताके हृदय आप।' यह सत्य पूरे जीवन का सत्य है। मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य का पालन करना ही सच्चा सत्य है। कथनी और करनी एक होना चाहिये। कबीर ने कहा है—

करनी बिन कथनी कथै, अज्ञानी दिन रात।
कूकर ज्यों भूकत फिरै, सुनी सुनाई बात॥

चाणक्य नीति में कहा है कि महात्माओं का मन, वचन और कर्म एक होता है—'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनम्'।

कविकुल चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदासजी कथनी और करनी के एक होने को भगवान् की कृपा की कसौटी मानते हैं—

तुम अपनायो हौं तबैही परि जानि हौं।
गढ़ि गुढ़ि छोलि छाल कुंद की सी भाई बातें।
जैसी मुख कहो तैसी जीय जब प्रानि हौं॥

(कवितावली, उत्तर काण्ड, ६३)

अस्तेय को (चोरी न करने को) मनु महाराज ने धर्म के दस लक्षणों में गिनाया है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनुस्मृति ६/९२)

ब्रह्मचर्य ऊपर के गिनाये हुए धर्मों में इन्द्रिय-निग्रह के अंतर्गत है। वास्तव में ब्रह्मचर्य सब इन्द्रियों के निग्रह का प्रतीक है। इन्द्रिय-निग्रह से ही ब्रह्मचर्य सम्भव हो सकता है।

अपरिग्रह का उपदेश ईसावास्य उपनिषद् के पहले ही मंत्र में दिया गया है। वह बतलाता है कि सारा संसार ईश्वर से

व्याप्त है। सब उसी का है। त्याग करते हुए भोग करो। दूसरे के धन का लालच न करो।

ॐ ईशावस्यमिदंसर्वं यत्किञ्च जागत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधःकस्यस्विद्धनम्॥

श्रीमद्भगवद्गीता में भी परिग्रह का त्याग बतलाया गया है—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

भारतीय जीवन में शारीरिक श्रम का विशेष महत्व है। सब काम को अपने हाथ से ही करने पर बल दिया गया है। अस्वाद भी इन्द्रिय-निग्रह का एक अंग है। गांधीवाद दूसरे को कष्ट देने की अपेक्षा अपने को कष्ट देना सिखाता है। शारीरिक श्रम मनुष्य को कष्ट-सहिष्णुता के लिये तैयार करता है। सेवा धर्म के लिये भी शारीरिक श्रम आवश्यक हो जाता है।

निर्भयता को भगवद्गीता में दैवी सम्पत्ति के वर्णन में प्रथम स्थान दिया गया है—अभयं सत्वसंशुद्धिः (१६/१)। हिन्दू धर्म सर्वधर्म-समभाव के सम्बन्ध में बड़ा उदार रहा है। महिम्न स्तोत्र में लिखा है—

रुचीनां वैचित्र्याहजुकुटिल नानापथजुषां।
नृणामेकोः गम्यस्त्वं पयसापारणमिव॥

अर्थात् 'रुचियों की विचित्रता के कारण कोई सीधा रास्ता जाता है, कोई टेढ़ा जाता है। जिस प्रकार सब जल समुद्र को जाते हैं उसी प्रकार तुम सब मनुष्यों के गन्तव्य स्थान हो।' स्वदेशी स्वधर्म की भाँति चाहे खराब भी हो अधिक श्रेयस्कर है। अस्पृश्यता निवारण के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है किन्तु सच्चे एकात्मवाद में अस्पर्श्य कोई नहीं है।

विद्याविनय संपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः॥—गीता

अर्थात् विद्या-विनय से युक्त ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में, कुत्ते में और चांडाल में पंडित लोग समदर्शी होते हैं। स्पर्श्यभाव को मानने वाले लोग कहते हैं यह परमार्थ में ही सत्य है, व्यवहार में सत्य नहीं है। महात्मा गांधी परमार्थ और व्यवहार में कोई

भेद नहीं करते हैं। यदि मनुष्य वास्तव में समदर्शी है तो उसके लिये स्पर्श्यास्पर्श्य का भेद नहीं रहता है। हमें समता दृष्टि को सभी बातों में लगाना चाहिये।

नम्रता भारतीय संस्कृति का एक विशेष गुण है। ब्राह्मण के लिये भी विनय को आवश्यक बतलाया है—'विद्याविनय सम्पन्ने'। विद्या की भी शोभा विनय में है—'विद्याविनयेन शोभते'।

गांधीजी ने इन व्रतों के अतिरिक्त क्षमा और अक्रोध को अपनाया था। ये मनु महाराज के बतलाये हुए दश धर्मों में ऊँचा स्थान पाते हैं। धम्मपद में कहा है—

अक्रोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने।

अर्थात् क्रोधी को अक्रोध से और असाधु को साधुता से जीतना चाहिये। गांधीवाद भारत की आध्यात्मिकता पर आधारित है और वह मानवता का वह सन्देश लेकर आया था, जिससे प्रेरित होकर हमारे ऋषियों ने कहा था—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुख भाग् भवेत्॥

[*'उत्तर प्रदेश पंचायती राज्य'* (१५ अगस्त १९५४)]

राष्ट्रोन्नति में जातीय गर्व की महत्ता

विकास की आस भरा नवेन्दु सा,
हरा-भरा कोमल पुष्प-माल सा।
प्रमोद-दाता विमल प्रभात सा,
स्वतंत्रता का शुचि पर्व आ लसा।

आज का शुभ दिन भारत के राजनीतिक इतिहास में सबसे अधिक महत्व का है। आज ही हमारी सघन कलुष-कालिमामयी दासता की लौह शृङ्खलाएँ टूटी थीं। आज ही स्वतन्त्रता के नवोज्ज्वल प्रभात के दर्शन हुए थे। आज दिल्ली के लाल किले पर पहली बार यूनियन जैक के स्थान में सत्य और अहिंसा का प्रतीक तिरङ्गा झण्डा स्वतन्त्रता की हवा के झोंकों से लहराया था। आज ही हमारे नेताओं के चिरसंचित स्वप्न चरितार्थ हुए थे। आज ही युगों की परतन्त्रता के पश्चात् शंख-ध्वनि के साथ जयघोष और पूर्ण स्वतन्त्रता का उद्घोष हुआ था।

हमारी उदासीनता—इतने महत्व और हर्षोल्लास के पुण्यपर्व पर हमारा सबसे पहला कर्तव्य तो यही है कि हम अपने खोये हुए स्वाभिमान की पुनः प्राप्ति पर हर्ष मनायें और अपने में स्वतन्त्रता के उत्तरदायित्व की नवचेतना जागृत करें, किन्तु हम अपने वैयक्तिक स्वार्थों में इतने जकड़े हुए हैं, अपने आर्थिक अभावों (जिनमें कुछ कल्पित भी हैं) की चेतना से इतने आक्रान्त हैं और दलबन्दी के दलदल में इतने फँसे हुए हैं कि हम नैराश्य और विरक्ति के साथ कह बैठते हैं कि स्वराज्य जिसके लिये आया होगा उसके लिये आया होगा, हमारे लिये तो वही अभावों से भरा जीवन है। हम आपके अभावों की महत्ता को कम नहीं करना चाहते, हम आपके साथ यह भी कहने को तैयार हैं कि 'भूखे भजन न होइ गोपाला', किन्तु हम यह नम्र निवेदन करना चाहते हैं कि रोटी के बिना जीवन-निर्वाह नहीं होता यह तो ठीक है, किन्तु मनुष्य केवल रोटी पर नहीं जीता, उसमें स्वाभिमान भी

होता है। वैयक्तिक स्वाभिमान से भी जातीय स्वाभिमान अधिक महत्व रखता है—'सब ते अधिक जाति अपमाना'—किन्तु हमने उस जातीय स्वाभिमान की परवाह नहीं की। हममें राष्ट्रीयता की वह सामूहिक चेतना नहीं जो स्वराज्य से पहले थी। हमने अपना तादात्म्य भारत की आत्मा से नहीं किया है। 'सरकार चाहे जिस दल की हो भारत अपना है' यह चेतना सामूहिक रूप से न हमारे बड़े-बूढ़ों में आई है और न विद्यार्थियों में। हम समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि को अधिक महत्व देते हैं। भारत के गौरव को हम अपना गौरव नहीं समझते हैं। 'मानो हि महतां धनम्' की बात को हम भूल गये हैं और याद भी है तो वैयक्तिक मान के सम्बन्ध में।

हमारे कवियों ने अभावों की ओर अधिक ध्यान दिया है। स्वतन्त्र भारत के विस्तारोन्मुख क्षितिज को देखकर जो हृदय की मुक्तावस्था आनी चाहिये वह उनमें बहुत कम मात्रा में आई है। जातीय चेतना जो स्वराज्य से पहले थी उसमें वृद्धि होने की अपेक्षा मूल में भी ह्रास दिखाई देता है। स्वतन्त्रता का पर्व आता है और चला जाता है, एक रस्म सी अदा हो जाती है। हमने अपने वैयक्तिक अभावों के कारण उसका मूल्य नहीं पहचाना है। हम उसका मूल्य स्वार्थसिद्धि की भाषा में आँकते हैं। कुछ लोग सामूहिक कष्टों से भी अवश्य दुखी हैं। ऐसी बात नहीं कि सब लोग वैयक्तिक अभावों से ही पीड़ित हों, किन्तु अन्धकार के साथ कुछ शुभ्र और उज्ज्वल रेखाएँ भी हैं। उनकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता है। बुराई की ओर हमारा ध्यान अधिक दौड़ता है। नई योजनाएँ चरितार्थ हो रही हैं। उनमें चाहे अपव्यय हुआ हो, किन्तु सब धोका ही धोका नहीं। ऐसा कहना हजारों लोगों के परिश्रम और बलिदान पर पानी फेर देना होगा। भाखरा-नांगल बाँध केवल मायाजाल नहीं है। अन्न के अभाव के लिये सरकार की खूब बुराई हुई, किन्तु उसके दूर होने की स्थिति निकट आने पर किसी ने साधुवाद के दो शब्द भी नहीं कहे। क्या यह सब सब्जबाग है? तेनसिंह द्वारा एवरेस्ट विजय पर हममें एवं विद्यार्थियों में वह उल्लास नहीं आया जो आना चाहिये और न साहसी कार्यों के लिये उससे इतनी प्रेरणा मिली जितनी कि मिलनी चाहिये थी। हमारे कवि भी कुछ उदासीन से रहे।

विदेशी राजनीति की गति-विधि में जो भारत का हाथ है उस पर हम गर्व नहीं करते। हिन्द-चीन की विराम-सन्धि के निरीक्षण आयोग में भारत को जो अध्यक्षता मिली उससे हम वीतरागी वेदान्तियों की भाँति अविचलित हैं; हर्षोल्लास की रेखा हमारे मुख पर नहीं। विदेशी बस्तियों पर वहाँ के निवासियों के अतिरिक्त उतना जन-क्षोभ नहीं प्रकट हुआ जितना होना चाहिये। शिक्षा और विज्ञान के क्षेत्र में नये अनुसन्धान हो रहे हैं। अणु-शक्ति से भी हम लाभ उठाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इन नवीन सम्भावनाओं से हमारे युवकों का मन प्रभावित नहीं होता।

अभावों के अस्तित्व में भी पर्व की खुशी—देश में अभाव है, असमानताएँ भी हैं, उनको भुलाया नहीं जा सकता, किन्तु हमको यह भी नहीं भूलना चाहिये कि दुनियाँ इतनी सम्पन्न नहीं है कि सबके अभावों की समान रूप से पूर्ति हो सके। बेकारी अवश्य है, किन्तु बेकारी गोस्वामी तुलसीदासजी के समय में भी थी—

खेती न किसान को भिखारी को न भीख,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका-विहीन लोग सीद्यमान सोचबस,
कहैं एक एकन सों 'कहाँ जाइ, का करी ?'

किन्तु यह हमारे लिये कोई सन्तोष की बात नहीं और न यह हमारी अकर्मण्यता के लिये बहाना बनना चाहिये। इन अभावों के होते हुए भी जहाँ हम होली-दिवाली और ईद मना सकते हैं वहाँ इस राजनीतिक पर्व को भी हर्षोल्लास से मना सकते हैं।

पर्व पर हर्षोल्लास से जातीय लाभ—राष्ट्रीय पर्व का मनाना कोरी भावुकता नहीं है। इस भावुकता का मूल्य है। भावुकता में संक्रामकता होती है; संक्रामकता से वस्तु जनता की हो जाती है और फिर वह शक्ति का संचार करती है। विचार हमारी दिशा का निर्देशन कर सकते हैं, किन्तु कार्य-सम्पादन की प्रबल प्रेरणा और शक्ति भावों में ही निहित रहती है। भाव भी जब तक वैयक्तिक रहते हैं तब एक 'एक चना भाड़ नहीं फोड़ सकता' की बात सार्थक करते हैं। 'एकला चलो रे' की बात बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, कबीर, नानक, रवीन्द्र और गांधी के लिये ठीक हो

सकती है। वे अकेले चल पड़ते हैं और लोग उनके पीछे चलते हैं, किन्तु बिना पीछे चलने वालों के उनकी वाणी भी बल नहीं पकड़ती। इस जन-रस और जन शक्ति को उत्पन्न करने के लिये इन राष्ट्रीय पर्वों का मनाना आवश्यक है। इनसे हमारे कार्यों में एक-ध्येयता आती है और वे गति पकड़ते हैं। हमारी बहुत सी योजनाओं में जो बल नहीं आने पाता वह इसी जातीय गर्व की भावना के अभाव के कारण है। भ्रष्टाचार पर हम विजय नहीं पा सके हैं, इसके मूल में भी जातीय गर्व का अभाव है। हमारे बहुत से उच्चाधिकारी भी राज-मद में उन्मत्त हो गये हैं, यह जातीय गर्व के अभाव के कारण ही है। 'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं' की लोकोक्ति उन्हीं के लिये है जिनमें जातीय गौरव और देशहित की भावना की कमी है। जातीय गर्व का अभाव वैयक्तिकता का पोषण करता है। ऐसे समय में जब विदेशी बस्तियों की उन्मुक्ति का प्रश्न है, अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व हमारे कंधों पर आ गया है, देश के डूबने और बचाने का सवाल है, जब चारों ओर से आलोचना के तीक्ष्ण बाण चल रहे हैं, इस जातीय गर्व की विशेष आवश्यकता है। कोरा जातीय गर्व काम न देगा। उसके भीतर सच्ची भावना होनी चाहिये जिससे हम उसको सार्थक करने के लिये अपना चरित्र ढाल सकें। राष्ट्रीय चरित्र के उत्थान के बिना भ्रष्टाचार और अत्याचार, दम्भ और धोकेबाजी दूर न होगी।

हमारा उत्तरदायित्व—इस जातीय गर्व के साथ हमारे कंधों पर तदनुरूप चरित्र-निर्माण का बोझ तो आ ही जाता है, किन्तु उसी से हम पर अपने को ज्ञान-सम्पन्न और शक्ति-सम्पन्न बनाने का भी उत्तरदायित्व आ जाता है। देश की गतिविधि से हम अनभिज्ञ रहते हैं। इसमें सरकार का भी दोष है, उसका प्रचार-विभाग भी जातीय गर्व से प्रेरित न होकर कोरी खानापूरी करता है। उसको चाहिये कि जनता के सम्पर्क में आये। आलोचनाओं के आधारभूत सत्य की खोज करे और सरकार की कठिनाइयों की व्याख्या करे। समस्याओं के अध्ययन में विशेषकर विद्यार्थियों को कोरी भावुकता से काम न लेना चाहिये। उनको निर्भय तर्क द्वारा पक्ष-विपक्ष की युक्तियों की

छानबीन द्वारा पूर्ण निश्चय कर निर्भीकता पूर्वक अपना मत प्रकट करना चाहिये।

हमको चाहिये कि हम अपने हृदय को दूसरों की सफलता पर गर्व से स्पन्दित और दूसरों की विफलता पर सहानुभूति से आन्दोलित करने में सहायक हों। राष्ट्र के किसी भी क्षेत्र में किसी व्यक्ति की सफलता को अपनी सफलता और किसी व्यक्ति की विफलता को अपनी विफलता समझें। गीता के कर्मयोग में बतलाया गया है कि जो कुछ हम कर्म करें उसको कृष्णार्पणमस्तु की भावना से करें। हमको अपने काम देश के गौरव-हिताय करने चाहिये। हमें सोचना चाहिये कि हमारा अच्छा काम देश के गौरव को बढ़ायेगा और हमारा बुरा काम देश का मस्तक नीचा करेगा। हमको अपने रहन-सहन के भीतरी और बाहरी दोनों स्तरों को ऊँचा करना चाहिये। सरकार पंचवर्षीय योजना में देश के बाहरी रहन-सहन को ऊँचा करने का उद्योग कर रही है। चारित्रिक स्तर को ऊँचा करने की भी उतनी ही आवश्यकता है।

हम देश को सम्पन्न और शक्तिशाली बनाने में योग दें। अपने लड़के-बच्चों को ऐसे उद्योग-धंधे सिखायें जिनसे नवनिर्माण में सहायता पहुँचे। उनके जीविकोपार्जन में राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखें। हम अपने रहन-सहन को ही ऊँचा न करें, बल्कि दूसरों के रहन-सहन के ऊँचे होने में भी सहायक बनें। दूसरों के साथ प्रेम-व्यवहार से उनके हीनता-भाव को दूर करें। यदि हम सरकारी अफसर हैं तो हम शक्ति के आतंक से नहीं वरन् प्रेम और सेवा भाव से जनता को आकर्षित करें। सच्ची सेवा चुनाव के अवसरों पर वोट-भिक्षा के परिश्रम और अपव्यय को भी बचाती है। हम अपने रहन-सहन तथा अपने घरों और नगरों को सुन्दर बनाकर भारत को गर्व की वस्तु बनायें।

हम आलोचना करने से पूर्व समस्याओं का अध्ययन करने का प्रयत्न करें और उनके हल करने में भी योग दें। देश की समस्याओं को अपनी समस्या समझें और उसके लिये अपना उत्तरदायित्व अनुभव करें।

जातीय गर्व के बाधक—जातीय गर्व के बाधक कुछ कारण

तो जनता पर आश्रित हैं और कुछ सरकार पर। प्रायः वैयक्तिकता का आधिक्य, प्रान्तीय भावना, साम्प्रदायिकता और दलबन्दी जातीय गर्व में बाधक होते हैं। लोग देश और जाति की अपेक्षा सम्प्रदाय और प्रान्त को अधिक महत्व देते हैं। यह संकुचित भावना है। राष्ट्र सबका है। सब प्रान्तों, सब दलों और सब सम्प्रदायों को एक नियमित सीमा तक पूर्ण स्वतन्त्रता है, किन्तु इस स्वतन्त्रता की आड़ में राष्ट्र के गौरव की उपेक्षा करना उसका दुरुपयोग है। राष्ट्र अंगी है; व्यक्ति, दल, प्रान्त और सम्प्रदाय अंग हैं। अंग का हित अंगी की रक्षा में है। व्यक्ति, दल, प्रान्त और सम्प्रदाय की रक्षा राष्ट्र की रक्षा पर निर्भर है। इसलिये राष्ट्र की उपेक्षा अनुचित और घातक है।

सरकार का उत्तरदायित्व—जहाँ जनता का इतना कर्तव्य है वहाँ सरकार का भी इतना कर्त्तव्य है कि वह असन्तोष के कारणों का विधिवत् अध्ययन करे और सत्य को ग्रहण करे। उसमें हठधर्मी को स्थान न दे। आवश्यक वैभव प्रदर्शन की आड़ में अपव्यय को न होने दे। जब सरकारी कामों में अपव्यय होता है तब नीचे के अफसरों को भी भ्रष्टाचार के लिये प्रोत्साहन मिलता है। सरकारी अधिकारियों में सच्ची सेवा भावना जागृत की जाय जिससे वे वास्तव में जनता के सेवक कहे जाने के अधिकारी बनें।

सरकार दूसरे दलों से भी इतनी उदारता का व्यवहार करे कि उनको भी यह अनुभव होने दे कि सरकार उनकी है। उनकी आलोचना से लाभ उठाये और उनके परामर्श को उचित मान दे। राज्यों की समृद्धि और स्वतन्त्रता का सरकार उतना ही ध्यान रखे जितना कि केन्द्र की उन्नति का।

जनता और सरकार का सहयोग—जातीय गर्व की रक्षा का भार सरकार और जनता दोनों के ऊपर है। दोनों के सहयोग में ही जाति का कल्याण है। जहाँ जनता का कर्त्तव्य है कि वह सरकार और देश पर गर्व और राष्ट्रीय पर्वों में हर्षोल्लास प्रकट करे वहाँ सरकार का भी कर्त्तव्य है कि सच्चे अर्थ में जनता की सरकार और उसके गर्व की वस्तु बनने की अधिकारिणी बने। स्वस्थ लोकमत की वह उपेक्षा न करे; और जनसम्पर्क के प्रति

अधिक से अधिक उत्तरदायी बनें। सरकार की मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा की रक्षा सरकार के अधिकारियों के हाथ में है। वे स्वार्थवश ऐसा काम न करें जिससे जातीय गर्व को हानि पहुँचे। वे सरकार की प्रतिष्ठा के लिये अपनी सुख-सुविधाओं और मान-प्रतिष्ठा का त्याग कर समाज के सच्चे सेवक बनें। वे राजकीय सत्ता के अधिकार से शासन करें जिसमें शासित को शासन का भार न अखरे और उनके बीच की खाई कम हो।

['*साप्ताहिक हिन्दुस्तान*' (१५ अगस्त १९५४)]

साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता

मनुज जीवन है अनमोल
साधना है वह एक महान।
सभी निज संस्कृति के अनुकूल
एक हो रचें राष्ट्र-उत्थान।

(साकेत सन्त)

भारत एक स्वतन्त्र राष्ट्र है। राष्ट्र के लिये यह आवश्यक नहीं है कि उसके रहने वाले एक जाति व सम्प्रदाय के ही हों। राष्ट्र एक राजनीतिक इकाई है। उसके निवासियों के राजनीतिक हितों की एक-ध्येयता और शासन की एक-सूत्रता उनमें संगठन स्थित रखने के लिये आवश्यक है। सभी सम्प्रदाय और सभी प्रान्त राष्ट्र के अङ्ग हैं। राष्ट्र का हित सब का सम्मिलित हित है और राष्ट्र का अहित सब के लिये घातक है। ऐसी चेतना ही राष्ट्रीयता का मूल है।

राष्ट्र सब के हित के लिये है। उसके लिये हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिख सब बराबर हैं। वह किसी जाति विशेष का नहीं है और न किसी जाति विशेष को उसमें विशेष अधिकार है, सभी उसके संरक्षण और पोषण के समान रूप से अधिकारी हैं। सब के उसमें समान अधिकार और कर्त्तव्य हैं। सब पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं जब तक कि वे दूसरे की स्वतन्त्रता में बाधक न हों और राजकीय नियमों का पालन करते रहें।

साम्प्रदायिकता उस सीमा तक क्षम्य है, जहाँ तक कि वह अपने लोगों की सांस्कृतिक उन्नति में सहायक होती है। साम्प्रदायिकता वहीं दूषित हो जाती है जहाँ पर कि वह अपने लोगों के लिये दूसरों की अपेक्षा विशेषाधिकार चाहने लगती है। अपने-अपने धर्म का अविरोध रूप से पालन करते रहना साम्प्रदायिकता नहीं। अपने धर्म को बलपूर्वक दूसरों पर लादना या अपनी सुविधा के आगे दूसरों की सुविधाओं का ध्यान न रखना साम्प्रदायिकता का दूषित रूप है।

साम्प्रदायिकता के इसी दूषित रूप ने देश में दो राष्ट्रों के सिद्धान्त को जन्म दिया और देश के विभाजन सम्बन्धी असंख्य यातनाएँ और भीषण मारकाट के दृश्य इसी के फलस्वरूप देखने में आये। इसकी प्रतिक्रिया भारत में भी हुई। महात्मा गांधी घृणा को प्रेम से जीतना चाहते थे। यह बात कुछ लोगों की समझ में न आई। इसीलिये साम्प्रदायिक रोष की वेदी पर उनका बलिदान हुआ। घृणा घृणा को ही बल देती है। घृणा का तारतम्य एक ओर से बन्द करने पर ही बन्द होता है। हमारी सरकार ने साम्प्रदायिकता के उन्मूलन में किसी जाति का पक्ष नहीं किया। इसी कारण साम्प्रदायिक दंगों का जल्दी शमन हो सका।

राष्ट्र को समृद्ध और सम्पन्न बनाने के लिये सम्प्रदायों में अविरोध ही नहीं वरन् पारस्परिक प्रेम भी अपेक्षित है। पारस्परिक आदान-प्रदान में ही दोनों सम्प्रदायों की अभिवृद्धि की आशा है। विश्वास से विश्वास उत्पन्न होता है। कुछ लोग स्वभाव से अवश्य बुरे होते हैं, किन्तु कोई इतना बुरा नहीं कि उस पर सच्चे हृदय से की हुई भलाई का प्रभाव न पड़े।

प्रत्येक सम्प्रदाय के लोग अपने-अपने धर्म और अपनी-अपनी संस्कृति के अनुकूल जीवनयापन करने में स्वतन्त्र हैं। राष्ट्र किसी के धर्म और संस्कृति में बाधक नहीं है और न एक सम्प्रदाय को दूसरे सम्प्रदाय की धर्म और संस्कृति में बाधक होना चाहिये। धर्म एकता का द्योतक है। उसे पार्थक्य का साधन न बनाना चाहिये। जो सम्प्रदाय अपने धर्म का आदर चाहता है उसको दूसरे के धर्म का आदर करना चाहिये। सब धर्म मूल में एक ही हैं। सभी धर्म मनुष्य के साथ सद्व्यवहार सिखाते हैं। ईश्वर किसी विशेष धर्म या जाति का नहीं। सर्वव्यापक किसी एक सम्प्रदाय में सीमित नहीं हो सकता। इसीलिये कबीर और गांधी जैसे उदार नेता महात्माओं ने राम और रहीम की एकता मानी है। 'ईश्वर अल्ला तेरे नाम, सब को सन्मति दे भगवान्।' आकृति, वेष, वर्ण, रीति-रिवाज यह सब ऊपरी वस्तुएँ हैं। अन्तर्दृष्टि डालने पर सब में एक ही प्राण का स्पन्दन दिखाई देता है। उसी विश्वात्मा से सभी अनुप्राणित हैं। इस सम्बन्ध में गुप्तजी की निम्नलिखित पंक्तियाँ पठनीय हैं—

आकृति वर्ण और वह वेष,
ये सब निज वैचित्र्य विशेष।
डालो अन्तर्दृष्टि निमेष,
देखो अहा! एक ही प्राण,
विश्वबन्धुता में ही त्राण।

धर्म के मूल में पार्थक्य नहीं। ईश्वर-प्राप्ति के साधनों और आराधना के प्रकारों में अन्तर हो सकता है किन्तु यह अंतर पार्थक्य का कारण नहीं बन सकता है। जहाँ तक राष्ट्रीय हितों का प्रश्न है वहाँ तक हिन्दू-मुसलमान में कोई अन्तर नहीं। सब को अन्न, वस्त्र और रहने के मकानों की आवश्यकता होती है। सब को औषधालयों और न्यायालयों की अपेक्षा होती है। फिर पार्थक्य किस बात का?

राष्ट्रीय विषयों में पार्थक्य भावना का पोषण करना राष्ट्र के लिये घातक है। पृथक् निर्वाचन एवं काउन्सिलों में स्थान सुरक्षित रखने के परिणामस्वरूप ही तो दो राष्ट्र की कल्पना को प्रोत्साहन मिला और देश का विभाजन हुआ। पार्थक्य की भावना को दूर हटाकर संयुक्त निर्वाचन ही देश के लिये हितकर है। संयुक्त निर्वाचन के साथ-साथ बहुसंख्यक जातियों पर इस बात का उत्तरदायित्व आ जाता है कि इस संयुक्त निर्वाचन के कारण अल्पसंख्यकों के हितों की हानि न हो। उनके योग्य व्यक्तियों को चुनाव में आ जाना चाहिये। बहुसंख्यकों की अनुदारता ही पार्थक्य की भावना को जन्म देती है।

सरकारी नौकरियों में जातियों के अनुपात से स्थान सुरक्षित कराना उचित नहीं है। नौकरियों में जो चुनाव हो वह खुली प्रतिद्वन्द्विताओं द्वारा ही हो। उसमें चुनने वाले लोगों को सम्प्रदाय और बिरादरी की भावना से परे होना चाहिये। अल्पसंख्यक लोग शिक्षा में पिछड़े हों तो उनको शिक्षा में ऊँचा उठाने का प्रयत्न करना आवश्यक है किन्तु अल्पसंख्यकों को खुश करने की खातिर अयोग्य व्यक्तियों की भर्ती करना ठीक नहीं।

साम्प्रदायिकता चाहे मुसलमानों में हो और चाहे हिन्दुओं में, बुरी है। राष्ट्र को तो साम्प्रदायिकता के विष से दूर रहना चाहिये। साम्प्रदायिक ऐक्य के लिये संस्कृतियों का एकीकरण

भी आवश्यक नहीं। सम्प्रदाय वाले अपनी-अपनी संस्कृति रखते हुए एक दूसरे के प्रति उदार रह सकते हैं। बलपूर्वक अपनी संस्कृति या अपना धर्म दूसरों पर लादना पाप है किन्तु शान्तिमय साधनों द्वारा सबको अपने-अपने धर्म के प्रचार की भी स्वतन्त्रता है। धर्म विश्वास की वस्तु है और विश्वास बलपूर्वक नहीं उत्पन्न किया जा सकता है।

साम्प्रदायिक सामञ्जस्य के लिये परधर्म-सहिष्णुता आवश्यक है। धर्म में कट्टर बने रहना बुरी बात नहीं है किन्तु वह कट्टरता इस हद तक न जानी चाहिये कि वह दूसरों को अपना धर्म पालन करते हुए न देख सके। इस सम्बन्ध में पूज्य महामना मालवीयजी के निम्नलिखित उपदेश को सदा ध्यान में रखना चाहिये—

विश्वासे दृढ़ता स्वीये परनिन्दा विवर्जनम्।
तितिक्षा मतभेदेषु प्राणिमात्रेषु मित्रता॥

अर्थात् अपने विश्वास में दृढ़ता और पराई निन्दा से दूर रहना, मतभेदों को छोड़ देना (सामान्य बातों को ग्रहण कर लेना, भेद की बात को उपेक्षा की दृष्टि से देखना), और प्राणि मात्र से मित्रता रखना चाहिये।

साम्प्रदायिक झगड़े जो होते हैं वे इसी परधर्म-सहिष्णुता के अभाव और अपनी टेक रखने के मिथ्याभिमान के कारण होते हैं। धर्मों में कोई बड़ा और छोटा नहीं। सभी धर्म ईश्वर की प्राप्ति के भिन्न-भिन्न साधन हैं। 'रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिल नाना-पथजुषां त्वमेकः गम्यः पयसामर्णवइव'—रुचियों की विचित्रता के कारण लोग टेढ़ा और सीधा मार्ग ग्रहण करते हैं; तुम ही एक सबके गम्य स्थान हो जिस तरह से कि सब नदियों का एक लक्ष्य समुद्र ही है। यदि हममें यह भावना आ जाय तो साम्प्रदायिक झगड़े बन्द हो जायँ। साम्प्रदायिक झगड़ों से देश की शक्ति क्षीण होती है और पारस्परिक वैमनस्य जड़ पकड़ जाता है। एक बार वैमनस्य स्थापित हो जाने पर भय और अविश्वास की मनोवृत्ति जाग्रत हो जाती है। जहाँ पारस्परिक भय होता है, वहाँ या तो पलायन वृत्ति का पोषण होता है या हिंसा का। दोनों ही मनो-वृत्तियाँ जाति को पतन की ओर ले जाती हैं। महात्मा गांधी ने

वीरों की अहिंसा का प्रचार किया है जो निर्भय होकर अहिंसात्मक साधनों से अत्याचार का सामना करती है। वीरों की अहिंसा में दूसरों को मारने की अपेक्षा अपने प्राणों का बलिदान करना अधिक श्रेयस्कर समझा जाता है।

सबसे पहले तो ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करनी चाहिये जिस में साम्प्रदायिक झगड़े असम्भव हो जायँ। सबल होते हुए भी दूसरे पक्ष को उनकी नीति से जीतने का प्रयत्न करना चाहिये और सत्य के आग्रह में बिना दूसरे पर हाथ उठाये आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राणों का भी उत्सर्ग कर देना चाहिये। यही महात्माजी का उपदेश है।

राष्ट्र को सशक्त बनाने की आवश्यकता है। साम्प्रदायिक एकता से राष्ट्र की शक्ति बढ़ेगी और पारस्परिक प्रेमभाव के कारण सभी सम्प्रदाय समुन्नत और समृद्धिशाली बन सकेंगे।

['प्रबन्ध-प्रभाकर']

भारत का समन्वयवादी सन्देश

उठे जूझने विश्व-समर में दुर्धर, लोक-चेतना के युग-शिखर भयंकर;
विश्व-सभ्यता रुग्ण, हृदय में व्याप्त हलाहल भीषण;
अमृत-मेघ भारत, क्या छिड़केगा न प्राण संजीवन?

—सुमित्रानन्दन पंत

हाल ही में हम, २६ जनवरी को, भारतीय गणराज्य की चौथी वर्षगाँठ मना चुके हैं। यह दिवस भारत का एक पुण्य पर्व दिवस है। इसी शुभ दिन को हमने पूर्ण स्वतन्त्रता का संकल्प किया था और इसी को उस संकल्प की पूर्ति हुई। यद्यपि पन्द्रह अगस्त भी हमारे लिये बड़े महत्व का पर्व है तथापि उसके लिये हम कविवर मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में यही कह सकते हैं—

सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ,
किन्तु समझो रात का जाना हुआ। (साकेत)

पन्द्रह अगस्त को हम दासता की प्रगाढ़ निद्रा से जगे थे। किन्तु सूर्योदय होने पर वस्तुओं की रूप-रेखा में जो स्पष्टता और दीप्ति आती है वह तभी आई जब सर्वतंत्र-स्वतंत्र और स्वामित्व-सम्पन्न भारत के सर्वाभयप्रद विधान का निर्माण हुआ और देश गणतंत्र राज्य घोषित हुआ। तभी अपने देश में प्रातःकालीन सद्यता, स्वच्छता और स्फूर्ति का विधिवत सूत्रपात हुआ और तभी हम कवि के शब्दों में स्वतन्त्रता के सूर्योदय के सम्बन्ध में यह कह सके—

खुले पलक, फैला स्वर्ण-जाल, जगी सुरभि, डोले मधुप बाल,
स्पन्दन कम्पन औ नवजीवन सीखा जग ने अपनाना।

—पंत

बादलों की स्वर्ण-रेखा—यद्यपि नव भारत में जितना स्पन्दन, कम्पन और नव जीवन चाहिये उसका एक अल्पांश भी नहीं दिखाई देता है, और उत्साह की अपेक्षा असंतोष तथा हास की अपेक्षा क्रन्दन-रव अधिक सुनाई पड़ता है, तथापि जागृति के

चिह्न भी सब ओर दिखाई पड़ते हैं। दीर्घकालीन दासता की ह्रासमयी वृत्तियों और दो महायुद्धों के संहारक परिणामों से पीड़ित मानवता की विषमताओं की मोहमयी कारा से हम पूर्णतया मुक्त नहीं हो सके हैं, फिर भी हम अपने आत्म-गौरव को पहचानने लगे हैं और हमारा हीनता-भाव भी दूर हो चला है। स्वराज्य से हमारा स्वाभिमान बढ़ा है। हम किसी देश के पिछलग्गू नहीं हैं। हमारी वाणी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में सुनी जाती है और वह अपना महत्व भी रखती है।

स्वराज्य से हमारी आर्थिक समस्याएँ चाहे हल न हों (कल्पवृक्ष इस संसार में नहीं है), फिर भी हम उनके हल की ओर अग्रसर हो चले हैं और यह निश्चित है कि 'मार्गस्थो न सीदति'—जो चल पड़ता है यह दुःख नहीं पाता है। पड़ा रहना ही कलियुग है और चलते रहना ही सतयुग है—

कलि शयानो भवति संजिहानस्तुद्वापरः।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥

अर्थात् सोनेवाला कलियुगी होता है, अँगड़ाई लेनेवाला द्वापर का, जो उठ खड़ा होता है वह त्रेता का होता है और चलना सतयुग का लक्षण है। हम द्वापर की अँगड़ाई से त्रेता के उत्थान-युग में आ गये हैं और सतयुग का चलना भी सीख रहे हैं। हमारी पंचवर्षीय योजना की आंशिक उपलब्धियाँ यह बतलाती हैं कि हमने 'चरैवेति' अर्थात् चलते रहो का पाठ प्रारम्भ कर दिया है। नई प्रयोगशालाएँ खुल रही हैं। हमारे वैज्ञानिक मानवहिताय अणुशक्ति के अनुसन्धान में भी लग गये हैं। रेल के इंजनों के निर्माण में एक शती की प्राप्ति कर चुके हैं। अँग्रेजी राज्य के १५० वर्षों में जो सफलता भारत को नहीं मिली थी, वह स्वराज्य के चार वर्षों में मिल गई। हवाई जहाजों का भी निर्माण प्रारम्भ हो गया है। बिजली और पानी देने की वृहदाकार योजनाएँ चल रही हैं। हम चल पड़े हैं, हमारे पैर कभी-कभी लड़खड़ाते भी हैं और हम गिर भी पड़ते हैं, किन्तु पड़े नहीं रहेंगे, यही हमारी आशा है।

लड़खड़ाने के कारण—उन्नति के इतने प्रयत्न होते हुए भी हमको अभीष्ट सफलता नहीं मिली है, इसके कई कारण हैं।

सबसे पहली बात तो यह है कि दलबन्दियों के कारण निर्माण-कार्यों में बहुत सी बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं और देश की शक्ति उन्नति के कार्यों में केन्द्रस्थ होने के स्थान पर विरोध और संघर्ष में बिखर जाती है। उत्पादन भी निर्बाधरूप से नहीं हो पाता, समतापूर्ण लाभ-वितरण के नाम पर उत्पादन को ही स्थगित कर देने वाली हड़तालें खड़ी हो जाती हैं। व्यापार और सरकार, पूँजीपतियों और मजदूरों की समस्याएँ उत्पादन में बाधक होती हैं। सरकार के बढ़े-चढ़े खर्चे आर्थिक कठिनाइयाँ उपस्थित कर देते हैं। इनके हल के लिये दोनों ओर से समझौते की भावना चाहिये। दल और पार्टियों से देश बड़ा है। हमारे विद्यार्थी भी यह भूल जाते हैं कि देश उनका है, सरकार चाहे जिसकी हो; देश की सम्पत्ति का नाश करने और तोड़-फोड़ करने में वे अपना ही नुकसान करते हैं।

इन सब कारणों से बढ़कर कारण हममें नैतिकता का अभाव है। हमारा यह अभाव ही हमारी योजनाओं की विफलता या अमितव्ययता का कारण बनता है। देश की जो आर्थिक न्यूनताएँ और असफलताएँ हैं उनका कारण दैवी प्रकोप नहीं है, 'दैव दैव आलसी पुकारा', उनका एकमात्र कारण हमारी नैतिक दुर्बलता है। इस नैतिक दुर्बलता को दूर करने के लिये गांधीजी-प्रतिपादित सरल जीवन और उच्च विचार के कार्य को अपनाना होगा। विलासमय जीवन के बढ़े हुए खर्चों की पूर्ति के लिये हमें प्रायः बेईमानी का सहारा लेना पड़ता है। इसके अतिरिक्त हममें देश के प्रति गौरव-भावना जागृत करने की आवश्यकता है। हममें यह गौरव-भावना उत्पन्न होने पर कि हम स्वतन्त्र देश के नागरिक हैं अतः हम कोई काम ऐसा न करें जिससे देश को हानि पहुँचे या उसका गौरव घटे, हममें से बहुत सी बुराइयाँ दूर ही जायेंगी।

हमारे कवियों ने प्राचीनों की गौरवगाथा का गान बड़े उच्च स्वर से किया है किन्तु नवीन भारत के प्रति उनकी उपेक्षा सी रही है। स्वतन्त्र भारत के जयघोष से उनकी वाणी मुखरित नहीं हुई है। उनकी दृष्टि अभावों की ओर अधिक गई है। हममें जहाँ दोष है, वहाँ कुछ थोड़ी प्रयत्नशीलता भी है। उसके लिये हमारे कवियों ने, धर्मोपदेशकों और लोकमत के नायकों ने हमारी पीठ

नहीं ठोकी है। यदि वे ऐसा करें तो उनके साधुवाद से नव भारत का हृदय उत्साह से आन्दोलित हो उठेगा और सच्चे वीर रस का संचार होगा। हमारे कवियों ने तेनसिंह के साहसी कार्य की भी उपेक्षा सी की है।

हमारा लक्ष्य—हमारा लक्ष्य यह है कि देश में पूर्ण आर्थिक और सांस्कृतिक सम्पन्नता के साथ पूर्ण आन्तरिक शान्ति हो और बाहर भी हमारी सद्भावनाएँ फलवती होकर शान्ति का साम्राज्य स्थापित करें। भीतरी और बाहरी शान्ति एक-दूसरे पर निर्भर हैं। बाहरी शान्ति के बिना हमारा देश उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता है और भीतरी शान्ति के बिना हम दूसरों को शान्ति का उपदेश नहीं दे सकते हैं। भीतरी शान्ति के बिना शान्ति का उपदेश चिराग तले अन्धेरे जैसी बात होगी। हम आन्तरिक शान्ति तभी स्थापित कर सकेंगे जब सब सम्प्रदायों और सब दलों में यह भावना उत्पन्न कर सकें कि सब सम्प्रदाय तथा दलों को अपनी-अपनी संस्कृति और विचारधारा के अनुकरण करने की स्वतन्त्रता है, यदि उनकी नीति और संस्कृति देश और देश-वासियों के लिये घातक न हो। सौभाग्य से हमारा संविधान इस सम्बन्ध में पर्याप्त रूप से उदार है। हमारी नीति निर्बलों और अल्पसंख्यकों के शोषण की नहीं वरन् पोषण की है। इसी नीति का प्रतिपादन 'साकेत संत' में डाक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र ने किया है—

सभी निज संस्कृति के अनुकूल,
एक हो रचें राष्ट्र-उत्थान।
इसलिये नहीं कि करें सशक्त
निर्बलों को अपने में लीन—
इसलिये कि हों विश्व-हित-हेतु
समुन्नति-पथ पर सब स्वाधीन।

इसी नीति को हम देश के भीतर और देश के बाहर भी बरतना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि हमारे देश में एकता में अनेकता और अनेकता में एकता का सुसम्पन्न साम्य हो। 'स्टीमरोलर' का साम्य नहीं चाहते हैं वरन् सर्वोदयमय संगीत का सा साम्य हमारा अभीष्ट है, जिसमें विभिन्न जातियाँ अपनी

संस्कृति की रक्षा करती हुई देश में धर्म, अर्थ और काम की अन्विति के साथ भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि का अनुभव कर सकें।

धर्म, अर्थ, काम का समन्वय—हमारे यहाँ चार पुरुषार्थ माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मोक्ष धर्म तथा काम के साम्य से प्राप्त मुक्तावस्था है। इस संसार में हमको धर्म, अर्थ और काम से मतलब है। धर्म, अर्थ और काम की साधना जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन में आवश्यक है, उसी प्रकार राष्ट्र के लिये भी परम वांछनीय है। इस सम्बन्ध में मैं वाल्मीकि रामायण से एक उद्धरण देने का मोह संवरण नहीं कर सकता। भगवान् रामचन्द्र चित्रकूट में आये भरत से कुशल प्रश्नों के साथ यह पूछते हैं कि अर्थ से धर्म में तो बाधा नहीं पड़ती और धर्म से अर्थ में किसी प्रकार का व्यवधान तो नहीं पड़ता और प्रीति और लोभ तथा काम से धर्म और अर्थ में तो बाधा नहीं पड़ती ?

कंश्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे॥

यही भारतीय समन्वयात्मक और संतुलनपूर्ण जीवन का दृष्टिकोण था।

आजकल के लौकिक राज्य में धर्म को कुछ शङ्का की दृष्टि से देखा जाता है किन्तु शङ्का की वस्तु धर्म नहीं है वरन् धर्म का दुरुपयोग है। धर्म तो समाज को धारण किये रहता है। वह हमको एक सूत्र में बाँधता है। जब हमारी एकसूत्रता पार्थक्य के बीज बोती है तभी वह सम्प्रदाय के रूप में परिणत हो जाती है। हमें अपने अङ्ग पुष्ट बनाने हैं किन्तु उसके साथ यह भी याद रखना चाहिये कि अङ्ग स्वतन्त्र नहीं हैं वरन् अङ्गी के ही अङ्ग हैं। धर्म के भी दो पक्ष हैं—साधारण धर्म और विशेष धर्म। साधारण धर्म सब धर्मों का प्रायः एकसा है। मनुस्मृति में बतलाया हुआ दश लक्षण वाला धर्म मनुष्य मात्र के लिये एक है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

महात्मा गांधी के बतलाये हुए एकादश व्रत भी ऐसे ही हैं। धर्म यहाँ के चार पुरुषार्थों में एक है। धर्म ईश्वर या परम सत्ता -

परक नीति-शास्त्र है। धर्म की साधना में ही नैतिक साधना है और नैतिक साधना राष्ट्रीयता का प्रथम सोपान है। धर्म से अविरुद्ध अर्थ और काम भी राष्ट्र और व्यक्ति दोनों के लिये वांछनीय हैं। अर्थ जब धर्म-विरुद्ध होता है तभी कलह का कारण होता है। चोर-बाजारी और भ्रष्टाचार धर्म-विरुद्ध अर्थ-संग्रह के रूप हैं। दूसरे राष्ट्रों को शक्तिपूर्वक दबाकर उनसे आर्थिक लाभ उठाना अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में धर्म-विरुद्ध अर्थ-संग्रह है।

हमारे यहाँ त्याग के साथ अर्थ का भोग बतलाया गया है। इस देश का आध्यात्मिक साम्यवाद कहता है कि सारा संसार ईश्वर से व्याप्त है। इसलिये त्याग के साथ भोग करो। दूसरों के माल पर कुदृष्टि मत रखो। दूसरों के भाग को छोड़कर हमको भोग करने चाहिये। यही नीति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में बरतनी चाहिये।

अर्थ का त्याग सभी को करना चाहिये। पूर्ण साम्यवाद सम्भव नहीं है। यद्यपि सभी कार्य राष्ट्रीय महत्व रखते हैं फिर भी सब धान बाईस पंसेरी नहीं बेचे जा सकते। कार्यों की महत्ता में अन्तर करना होगा और उसी मात्रा में उनके करने वालों की सुख-सुविधाओं में अन्तर देना पड़ेगा। किन्तु इसकी एक सीमा है। इस सीमा को स्वीकार करना ही सच्चा अपरिग्रह है। इस सीमा को अधिकारी वर्ग तथा पूँजीपतियों आदि सभी को मानना होगा तभी अर्थ धर्मविरुद्ध होगा। वह सीमा स्वेच्छा-पूर्ण त्याग से आ सकती है। स्वेच्छापूर्ण त्याग संघर्ष और कटुता को कम कर सकता है।

भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है—'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभः' (मैं धर्म से अविरुद्ध काम हूँ)। काम सौन्दर्य और सृजन-शक्ति का प्रतीक है। विश्व का जो मंगल-विधान है, संसार में जो कला-वैभव है, वह सब काम का ही विस्तार है। हमको अपना राष्ट्र सुन्दर और कलामय बनाना है। कला और साहित्य की रक्षा और समृद्धि करनी है।

अन्य समन्वय—इन्हीं समन्वयों के साथ हमको भगवान् के दैवी गुणों—शील, शक्ति और सौन्दर्य—को अपनाना है। ये भी धर्म, अर्थ और काम के ही रूप हैं। शील बिना शक्ति

राक्षसी बन जाती है। शील के अभाव में ही तो हीरोशीमा के दृश्य घटित हो सके थे। शक्ति के बिना सौन्दर्य अपनी रक्षा नहीं कर सकता है। और सौन्दर्य के बिना शील की भी रमणीयता जाती रहेगी। इसी प्रकार भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय करना होगा। हमारे लिये पश्चिम के जीवन-सौष्ठव के साथ भारत-पूर्व की आध्यात्मिकता चाहिये। वही भौतिकवाद के तम को मिटा सकती है।

पश्चिम का जीवन सौष्ठव हो विकसित
विश्वतंत्र में वितरित;
प्राची के नव आत्मोदय से
स्वर्ण-द्रवित भू-तमस तिरोहित।

समन्वयवाद का पक्ष मैंने किसी चलती पुकार या नारे के रूप में नहीं किया है। समन्वयवाद मानवतावाद का ही रूपान्तर है। समन्वयवाद मनुष्य को एकांगिता से बचाता है और दूसरे पक्ष में भी सत्य के अंश को खोजने के लिये उद्यत करता है। दूसरे पक्ष के सत्य को न स्वीकार करने के कारण ही लड़ाई-झगड़े होते हैं। जिस मात्रा में दूसरे पक्ष की स्वीकृति होती है, उसी अंश में संघर्ष की सम्भावना कम हो जाती है। समन्वय सत्य की खोज पर आश्रित होना चाहिये। अन्ध समन्वय बेमेलपन उत्पन्न कर देगा। आन्तरिक और बाह्य शान्ति के लिये विभिन्न पक्षों के सत्यांश की खोज और उनकी उदार स्वीकृति आवश्यक है। यह समन्वय और समझौते की भावना भारतीय संस्कृति की विशेष देन है।

भारत की विश्व को देन—भारत जगद्गुरु रहा है। ज्ञान की ज्योति की किरणें भी उसी के तपोवनों में पहले-पहल प्रस्फुटित हुई थीं। 'प्रथम प्रभात उदय तव गगने, प्रथम सामरव तव तपोवने।'

'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' की एकात्मवाद की व्यापक और उदार दृष्टि पहले-पहल भारत को ही मिली थी। एकात्मवाद के भीतरी साम्य के बिना पश्चिम का बाह्य साम्य निरर्थक है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का पाठ जब तक हृदयंगम नहीं होता तब तक साम्यवाद की दुहाई देना विडम्बना मात्र है। यूरोप के देश

शक्ति की घुड़दौड़ कर रहे हैं। अणु बम के पश्चात् उदजन बम। वे प्रेम से नहीं, शक्ति के आतंक से शान्ति की स्थापना चाहते हैं। यह नीति पारस्परिक भय और अविश्वास को जन्म देती है। कोरिया के रक्तपात से रणचण्डी का खप्पर नहीं भरा है। सशक्त राज्यों की रावण की भाँति युद्ध के लिये भुजाएँ फड़क उठती हैं। मानवता की रक्षा के नाम पर मानवता की ही हत्या हो रही है। हमको 'कामायनी' की इड़ा के शब्दों में युद्धकामी शक्तिशाली देशों से कहना पड़ेगा—

क्यों इतना आतंक ? ठहर जा ओ गर्वीले।
जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले।

यद्यपि युद्ध की विभीषिका से मानव जाति को बचाने के सतत् प्रयत्न संयुक्त राष्ट्र-संघ द्वारा हो रहे हैं तथापि पाश्चात्य देशों को भारत की ऊर्ध्वगामिनी व्यापक दृष्टि की आवश्यकता है। वह दृष्टि मनुष्य के ईश्वरत्व को सामने लाकर उसके आन्तरिक वैभव का उद्घाटन करेगी। भारत शक्तिशाली बनना अवश्य चाहता है किन्तु उसकी शक्ति 'परेषां परिपीड़नाय' न होगी और न वह दूसरों पर आतंक जमाने के लिये शक्ति का संग्रह करेगा। उसकी शक्ति 'परेषां रक्षणाय' होगी। उसने 'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु' का पाठ अपने जीवन-प्रभात में पढ़ा था, उसी को आज भी दुहराता है। वह सबका बराबर का अधिकार भी स्वीकार करता है। 'विध के बनाये जीव जेते हैं जहाँ तहाँ, खेलत फिरत तिन्हें खेलन फिरन देहु।' उसकी अहिंसात्मक निर्वैरता उसकी विशेषता है। वह किसी का शत्रु नहीं है और न किसी को अपना शत्रु बनाना चाहता है। वह सबके साथ सहयोग करेगा। रक्षा में वह सबका साथी है, संहार में वह सबसे अलग है। यही शान्ति का पाठ उसने पढ़ा है और यही वह दूसरों को पढ़ाना चाहता है। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया' यही संदेश वह शक्ति के ज्वर से पीड़ित मानवता को देना चाहता है। वह सिखाता है कि हमको अपनी विनाशनी शक्ति पर गर्व नहीं करना चाहिये वरन् अपनी विधायनी शक्ति से सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित करना है।

पश्चिम के अत्यधिक बुद्धिवाद ने हमारी दृष्टि को भेदों की

ओर अधिक प्रेरित किया है। भारतीय दृष्टि भेदों के बीच में बसने वाली एकता की ओर मानव का ध्यान आकर्षित करेगी। जितना हम ऊँचा उड़ते हैं, उतनी हमारी दृष्टि व्यापक होती है और उतनी ही मात्रा में भेद और कटुता विलीन हो जाती है। दुनियाँ में जो संघर्ष है वह आंशिक दृष्टि के कारण है। जब हम सारे संसार के लाभालाभ के दृष्टिकोण से देखते हैं तब क्षुद्र स्वार्थों से उत्पन्न हुई कटुताएँ विलीन हो जाती हैं। भारत राष्ट्रीयता को उसी अंश में अपनाना चाहता है जहाँ तक कि अपने देशवासियों का पिछड़ापन दूर हो सके। वह अपने चारों ओर राष्ट्रीयता की तंग दीवारें खड़ी करके अपनी दृष्टि को संकुचित नहीं करना चाहता। न वह लोहे के परदे चाहता है, न लकड़ी के। उसकी संस्कृति का जन्म तपोवनों के उन्मुक्त वातावरण में हुआ है; वह अपनी दृष्टि को भी उन्मुक्त और व्यापक रखना चाहता है।

[*'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'* (७ फरवरी १९५४)]

रामराज्य और वर्तमान भारत

आत्म-बल की मूर्ति पूज्य बापू के नेतृत्व में हमने रक्त-रहित अहिंसात्मक धर्मयुद्ध लड़कर अपने को दासता के दृढ़ बन्धनों से मुक्त किया। हमने दिल्ली के ऐतिहासिक लाल किले पर सत्य और अहिंसा के प्रतीक स्वरूप तिरंगे झण्डे को फहराने का चिर-संचित स्वप्न चरितार्थ किया और पूर्ण हर्षोल्लास के साथ प्रथम राष्ट्रीय महोत्सव मनाया। स्वतन्त्रता देवी के शुभ स्वागत के लिये दीप-मालाएँ सजाईं। स्थान-स्थान पर बैंड-बाजों के साथ राष्ट्रीय गान प्रतिध्वनित हुआ। सैनिक प्रदर्शन हुए। गीत-वाद्य के साथ प्रीत-भोज हुए। उत्साह का पारावार उमड़ा। किन्तु क्या इतने के लिये ही महात्मा गांधी ने देश के नेतृत्व का भार अपने ऊपर लिया था ?

यह तो रामराज्य के विशालतम भवन के शिलान्यास का महोत्सव था। स्वतन्त्रता द्वारा हमको राष्ट्र-निर्माण के कार्यक्षेत्र में प्रवेश करने के लिये निमन्त्रण पत्र मिला था कि हम अपने भविष्य के सम्बन्ध में स्वयं सोचें। पहले विदेशी लोगों को ही हमारे हिताहित के सोचने का अधिकार था। हमारे लिये स्वयं विचार करना राजद्रोह था। बहुत से कार्यक्षेत्रों में हमारा प्रवेश वर्जित था। दूसरों के नेतृत्व में मूर्ख पशुवत् लाठी के बल चलाया जाना हमारे स्वाभिमान के विरुद्ध था। स्वतन्त्रता ने हमारी खोई स्वाभिमान की थाती को हमें सौंपा। स्वतन्त्रता की सबसे बड़ी देन यही है कि हमारा चिरबन्दी स्वाभिमान मुक्त हुआ, हम विदेशियों के पिछलग्गू नहीं रहे। अन्तर्राष्ट्रीय परिषदों में हमारा शान्ति सन्देश गूँजने लगा। विदेशों में हमारा मान बढ़ा। और स्वदेश में भी अन्न-वस्त्र की चाहे अपेक्षाकृत कमी रही हो किन्तु कविरत्न सत्यनारायण जी के शब्दों में 'देश ही में विदेश भयो अब जानिये' की बात नहीं रही। हमारे बालकों के लिये, बिना किसी जाति-पाँति और धर्म तथा सम्प्रदाय के भेदभाव के, ऊँची से ऊँची नौकरियों के द्वार उन्मुक्त हो गये। हमने विशाल आयोजनाएँ

बनाई। हमारी कल्पना को पंख पसारने का अवसर मिला। वातावरण का अवरोध दूर हुआ। नई-नई प्रयोगशालाएँ खुलीं और वैज्ञानिक चिन्तन और नई कार्य-प्रणालियों का विकास हुआ। हम लड़खड़ाये और कहीं-कहीं गिरे भी किन्तु हममें अपने पैरों खड़े होने का बल आया। दूसरों से बताये हुए राजपथ की अपेक्षा स्वधर्म की भाँति स्वतन्त्र खोजा हुआ कंटकमय मार्ग भी श्रेयस्कर होता है। हमारी सफलता का क्षितिज कुछ दूरवर्ती अवश्य रहा, किन्तु मृग-मरीचिका नहीं सिद्ध हुआ। बड़े देश की बड़ी समस्याएँ होती हैं। विफलताओं का होना तो प्रायः अवश्यम्भावी होता है किन्तु एक स्वतन्त्र देश में जहाँ वाणी की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है, वे कुछ अधिक विस्तृत दिखाई देती हैं। अभावों के रंगमंच का दृश्य-परिवर्तन हुआ है। पहले किसान लोग अभावों के शिकार थे। अब मध्यवर्ती लोग उसके शिकार बने हैं। वे लोग ही अधिक मुखर होते हैं। किन्तु यह बात नहीं कि यह एक दुःस्वप्न मात्र है। इस विभीषिका का भी कुछ आधार है।

असन्तोष की भावना—यह असन्तोष उपेक्षा-योग्य नहीं, क्योंकि प्रजातन्त्रात्मक शासन में प्रजा का सन्तोष शासन की सफलता और उसके स्थायित्व का मापदण्ड है। यह असन्तोष कुछ तो वास्तविक है और कुछ काल्पनिक। काल्पनिक असन्तोष प्रेमपूर्ण वार्तालाप द्वारा सरकार की कठिनाइयाँ बतलाकर और अभाव के कारणों पर प्रकाश डालकर दूर किया जा सकता है। यद्यपि स्वराज्य के आगमन से अफसरों तक पहुँच अपेक्षाकृत अधिक सुलभ हो गई है, तथापि आजकल भी कागजी घोड़े दौड़ाने और खानापूरी करने की प्रवृत्ति अधिक है। प्रदर्शन हमने अँग्रेजों से विरासत में पाया है। सरकारी शासन में लाल फीते का व्यापार किसी न किसी अंश में अवश्य रहेगा किन्तु उसकी पेचीदगी अवश्य कम की जा सकती है। अधिकारियों में सेवा-भाव कुछ अधिक मात्रा में लाया जा सकता है। लोगों में जहाँ यह धारणा बन गई है कि सरकार शोषण करने के लिये है और वे शोषण के बलि-बकरे हैं तथा उनमें और सरकार में पार्थक्य की भावना बढ़ रही है, वहाँ सरकार की ओर से जनता के अज्ञान को दूर करने का सहृदयतापूर्ण प्रयत्न नहीं किया जाता है। जन-सम्पर्क बढ़ाकर

जनता की वास्तविक और काल्पनिक शिकायतों को दूर करने क प्रयत्न कम किया जाता है, यदि किया जाता है तो खानापूरी के लिये। जहाँ एक ओर दलबन्दी में आकर सरकारी कार्यों में को न कोई छिद्रान्वेषण कर उस पर प्रसन्नता प्रकट करने की प्रवृत्ति पाई जाती है वहाँ अधिकारी वर्ग में ऐसे समालोचकों के प्रति 'राजा करे सो न्याय' को उपेक्षावृत्ति बढ़ती जाती है। आलोचक लोग यह भूल जाते हैं कि सरकार हमारी है और यदि सरकार गलती करती है तो हमारे लोग ही गलती करते हैं। हमको प्रसन्न होने की अपेक्षा लज्जा से सिर नीचा कर लेना चाहिये। यदि सरकार में भ्रष्टाचार है तो हमारे लोग ही उस भ्रष्टाचार में योग देते हैं। भ्रष्टाचार के दूर करने में जो हमारा उत्तरदायित्व है उसको हम नहीं निभा रहे हैं। हम अनुचित लाभ उठाने के लिये भ्रष्टाचार को कितना प्रोत्साहन देते हैं। यह हम मानते हैं कि भ्रष्टाचार में आर्त और अर्थार्थी की अपेक्षा भ्रष्टाचार को स्वीकार करने वाले का अधिक उत्तरदायित्व है किन्तु हम गरजमन्द को भी उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं कर सकते। हमारे अखबार वालों ने भ्रष्टाचार के खिलाफ प्रबल जनमत नहीं उत्पन्न किया है, न कांग्रेस और अन्य राष्ट्रीय संस्थाओं ने भ्रष्टाचार के कारणों पर गम्भीरतापूर्वक सोचा है।

भ्रष्टाचार—भ्रष्टाचार को दूर करने के लिये हमें अपने जीवन में आमूल परिवर्तन लाना है। हमने आर्थिक मूल्यों को अधिक महत्व दिया है। अपरिग्रह का तो पाठ दूर रहा, किन्तु परिग्रह के लिये भी हमने सात्विक मार्गों को नहीं अपनाया है। जब तक हम अपने जीवन में सरलता नहीं लायेंगे, जब तक हम आर्थिक मूल्यों की अपेक्षा नैतिक मूल्यों को अधिक मान न देंगे, जब तक हम आलस्य को दूर कर ईमानदारी से काम करना नहीं सीखेंगे, तब तक भ्रष्टाचार नहीं दूर हो सकता। हम अपनी विद्या, अपने धन, अपने परिश्रम का अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहते हैं। हम लोग सभी एक दूसरे का शोषण करना चाहते हैं। हम वस्तु को अपने ही दृष्टिकोण से देखते हैं। आत्मौपम्य दृष्टि हमने नहीं सीखी। इसीलिये हम न्यायालयों की शरण में जाना चाहते हैं। हम वाजिबी से कुछ अधिक चाहते हैं। हम आलस्य या प्रमाद-

वश ठीक समय पर अदालत में नहीं जाते। उस देरी की कमी को हम रिशवत से पूरी करते हैं।

महात्मा गांधी सरल जीवन की पुकार इसीलिये करते थे कि हमारी आवश्यकताएँ कम हों। किन्तु हम अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाते जाते हैं। कांग्रेसजनों को जहाँ योग का जीवन व्यतीत करना था वहाँ वे भोग का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। हम अपना जीवन-स्तर ऊँचा करना चाहते हैं किन्तु पंचवर्षीय योजना में नैतिक स्तर को ऊँचा करने की नहीं सोचते।

देश का मान आर्थिक सम्पन्नता से इतना नहीं होता जितना कि नैतिक सम्पन्नता से। प्राचीन भारत की महत्ता उनकी नैतिकता में थी, महात्मा गांधी ने जो रामराज्य का स्वप्न देखा था वह इसी नैतिक स्वराज्य का था। रामराज्य का आदर्श भौतिक सम्पन्नता के साथ नैतिक सम्पन्नता था। गोस्वामी तुलसीदासजी उसको नीचे के शब्दों में व्यक्त करते हैं—

वयरु न कर काहू सन कोई, राम प्रताप विषमता खोई।
दैहिक दैविक भौतिक तापा, रामराज्य नहीं काहुहि व्यापा।
सब नर करहिं परस्पर प्रीती, चलहिं स्वधर्म निरत स्रुति रीती।
अलप मृत्यु नहिं कवनऊ पीरा, सब सुन्दर सब निरुज सरीरा।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना, नहिं कोउ अबुध सुलच्छन हीना।
सब निर्दम्भ धर्मरत प्रनी, नर और नारि चतुर सब गुनी।
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी, सब कृतग्य नहिं कपट सयानी।
एक नारि व्रत रत सब भारी, ते मन बच क्रम पति हितकारी।

इस वर्णन में थोड़ा काव्य चाहे अवश्य हो, स्वराज्य और सुराज्य का इसमें पूरा कार्यक्रम आ गया है। व्यक्ति और समाज दोनों ही सम्पन्न थे और दोनों में पूर्ण सामंजस्य था। 'चलहिं स्वधर्म निरत स्रुति रीती।' जहाँ मर्यादा का पालन होगा वहाँ व्यक्ति और समाज में सामंजस्य होगा। फिर 'वयरु न कर काहू सन कोई, राम प्रताप विषमता खोई।' यह वैर और सङ्घर्ष रहित समता थी। बलपूर्वक वर्ग-संघर्ष से लाई हुई समता न थी वरन् स्वरोपित शासक वर्ग की ईमानदारी से लाई हुई समता थी। इसमें सब स्वस्थ और नीरोग थे। सब कृतज्ञ थे। दूसरे के किये हुए उपकार को भूलते न थे। फिर समाज में सामंजस्य क्यों न होता?

रामराज्य में पारिवारिक कलह भी न थी क्योंकि सब एकनारि-व्रत धारण किये हुए थे, और स्त्रियाँ भी एकपति-व्रत का मन, कर्म और वचन से पालन करती थीं। दरिद्रता भी नहीं थी और निरक्षरता भी नहीं थी।

हमारी सरकार इनमें से बहुत सी बातों को चरितार्थ करने का सराहनीय प्रयत्न कर रही है। आर्थिक सम्पन्नता के लिये योजनाएँ बन रही हैं। शिक्षा का प्रसार हो रहा है। जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न जारी है किन्तु 'बयरु न कर काहू सन कोई', 'सब नर करहिं परस्पर प्रीती' का जैसा प्रयत्न चाहिये, वैसा नहीं हो रहा है। गैर सरकारी दलों के प्रति अविश्वास से काम लिया जाता है। वे दल भी सरकार का विश्वास प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। दोनों ओर अविश्वास है। दोनों ओर पूर्वाग्रहों से काम लिया जा रहा है। रामराज्य इस युग में भी स्थापित हो सकता है। राम की सी शासक वर्ग में नैतिकता और त्याग-भावना अपेक्षित है।

['*साप्ताहिक हिन्दुस्तान*' (२३ अगस्त १९५३)]

स्वतंत्र भारत

—उपलब्धियाँ और न्यूनताएँ—

भगवन् ! मेरा देश जगाना ।
स्वतंत्रता के उसी स्वर्ग में, जहाँ क्लेश नहीं पाना ॥
रुचे जहाँ मन को निर्भय हो ऊँचा शीश उठाना ।
मिले बिना किसी भेद-भाव के सबको ज्ञान खजाना ॥
तंग घरेलू दीवारों का बुने न ताना-बाना ।
इसीलिये बच गया जहाँ का पृथक पृथक हो जाना ॥
सदा सत्य की गहराई से शब्द मात्र का आना ।
पूर्णता की ओर यत्न कर जहाँ भुजा फैलाना ॥
विमल विवेक सुलभ सोते का जो रस पूर्ण सुहाना ।
रूठ भयानक मरुस्थली में जहाँ नहीं छिप जाना ॥
जहाँ उदार शील भावों का भावै नित अपनाना ।
सच्चे कर्मयोग में प्रति जन सीखे चित्त लगाना ॥

(कवीन्द्र रवीन्द्र की एक कविता का
स्व० सत्यनारायण कृत अनुवाद)

यह था कवीन्द्र रवीन्द्र का स्वतंत्रता का स्वप्न। पूज्य बापू के नेतृत्व में असंख्य नर-नारियों के तप, आत्म-त्याग और बलिदान के पुण्य फल स्वरूप हमको पंद्रह अगस्त सन् १६४७ को स्वतंत्रता के अरुणोदय के दर्शन हुए। देश का विभाजन और उसके पश्चात् की मार-काट दुखद घटनाएँ रहीं अवश्य किन्तु हमको स्वतंत्रता मिली। स्वतंत्रता के साथ खोया हुआ आत्म-सम्मान मिला। 'देश ही में भयो विदेश अब जानिये' की बात नहीं रही। हम राजनीति में किसी के पिछलग्गू नहीं रहे। अंतर्राष्ट्रीय सभाओं में हमारी आवाज गूँजती है। हमारे देश की एक नारी-रत्न को राष्ट्र संघ का सबसे ऊँचा पद प्राप्त है। कोरिया और हिन्द चीन की विराम संधियों में हमारा प्रमुख हाथ रहा है। ये सब हमारे लिये गर्व और गौरव के विषय हैं।

आगे बढ़ते कदम—हमको अपनी उन्नति के साधनों पर सोचने का सुअवसर मिला है। नई नई योजनाएँ बनीं और उनके चरितार्थ करने में हम लगे। अन्न-वस्त्र की भीषण समस्या का, जो हमको युद्ध और विभाजन के उत्तराधिकार में मिली थी, हल दृष्टिगोचर होने लगा। यद्यपि सभी प्रयोगों में निश्चित सफलता नहीं मिली और बहुत कुछ धन और जन-शक्ति का अपव्यय भी हुआ है तथापि हम कुछ पग आगे बढ़े हैं। हमको अपनी भूलों के सुधार का अवसर मिला हुआ है। हमने अपनी बहुत सी भूलों को सुधार लिया है या सुधार के निकट आ गये हैं। साम्प्रदायिकता के विष को हमने निर्ममता से दूर किया है। विस्थापितों को पुनर्वास और आजीविका तलाश करने में सहायता दी है। हमारे बालकों के लिये उच्च पद मिलने की सम्भावनाओं के द्वार खुल गये हैं। रेल के इञ्जन और मोटर कारें बनने लगी हैं। चारों ओर से औद्योगिक विकास की सम्भावनाएँ प्रकाश में आरही हैं। नहर घाटी योजना से जल-विद्युत् का उत्पादन बढ़ गया और उससे औद्योगिक उन्नति की भी आशा हो चली है। नई-नई प्रयोगशालाएं खुल रही हैं जिनमें मौलिक वैज्ञानिक अनुसन्धानों की सफलता होने की आशा है। ज्ञान-विज्ञान में हमारा क्षितिज विस्तृत हो रहा है। स्वराज आया है। सबके लिये आया है। सब दलों के लोगों के लिये शक्ति प्राप्त करने और सरकार बनाने का अवसर मिला है। चुनाव ने इस बात को प्रमाणित कर दिया है यद्यपि यत्र-तत्र अनियमितता की भी शिकायतें हुई हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता है कि वे निर्मूल थीं, किन्तु सब दलों के लोगों को राजसभाओं में भाग लेने का हक है और कुछ में तो उन्हें सरकार बनाने का भी अवसर मिला है। नौकरियाँ सभी दलों के लोगों के लिये खुली हुई हैं।

आलोचना का लक्ष्य क्या हो?—ये सब हमारी उपलब्धियाँ हैं। हमारे आलोचकों को इनको नगण्य न समझना चाहिये। हमारी न्यूनताएँ अवश्य हैं जिनकी उपेक्षा करना अनुचित होगा। सच्ची आलोचना का यही अर्थ है कि हमारी दृष्टि निष्पक्ष हो। न हम इतने दोषदर्शी हों कि कार्यकर्ताओं को हतोत्साह करदें

और न अपनी सफलताओं के ऊपर इतने आत्म-संतोषी हों कि हम अपने दोषों के प्रति अन्धे हो जायँ। हम आलोचना करें तो इसलिये नहीं कि हमसे भिन्न दल वाले लोगों के हाथ में सत्ता है वरन् गलतियों के लिये अपना भी उत्तरदायित्व स्वीकार करते हुए हम सरकार की आलोचना करें। इन गलतियों के निराकरण के लिये जनता का भी उत्तरदायित्व है। हम ईमानदारी से देखें कि हमने उनके निराकरण में कहाँ तक योग दिया है। हम चाहे राजनीतिक सत्ता रखें या न रखें, देश हमारा है। उसकी समृद्धि और उन्नति पर हमको गर्व होना चाहिये, वह उन्नति चाहे जिस दल के लोगों द्वारा सम्पन्न हुई हो; और जो बातें देश को नीचे गिराने वाली हैं उनके लिये भी हमारा उत्तरदायित्व है और उसके लिये हमें इतना ही लज्जित होना चाहिये जितना कि अपनी भूलों पर।

एक बड़ा दोष—हमारा एक दोष यह भी है कि अभाव और न्यूनताओं की हम सहज में आलोचना कर बैठते हैं और उनको अतिरञ्जित रूप में भी दिखाते हैं किन्तु जो अभाव दूर हो जाते हैं उनके लिये साधुवाद का एक शब्द भी नहीं कहते। सफलताओं को भी विफलता का रूप दे दिया जाता है। इसलिये भावी उन्नति क्रम में बाधा पड़ती है। अन्न के अभाव के लिये सब लोग चिल्लाते थे। जब वह दूर हुआ तब किसी ने सरकार के प्रयत्नों की सराहना न की। बुराई को हमारा मस्तिष्क जल्दी पकड़ता है।

हम जो कुछ कर सके हैं वह यद्यपि उपेक्षा योग्य नहीं है, तथापि जो नहीं कर सके हैं वह अवश्य चिन्तनीय है और उसके लिये हम उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकते हैं। हम भ्रष्टाचार को कम नहीं कर सके हैं। स्वतंत्रता स्वार्थसाधन का रूप बनती जा रही है। भ्रष्टाचार में जनता का भी सहयोग रहता है, किन्तु इसके साथ ऊँचे अधिकारियों का भी दोष है। वे छोटे अफसरों के सामने ईमानदारी का इतना ऊँचा आदर्श नहीं उपस्थित कर सके हैं जितना कि चाहिये। वे जनता को सीधी तौर से लूटते नहीं हैं किन्तु उनको लुटने से बचने में अधिक सहायता नहीं देते। वे जानते हुए भी अपने नीचे के अधिकारियों के दोषों की

चाहे आलस्य वश और चाहे दया वश उपेक्षा करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीवन की सादगी का आदर्श उपस्थित नहीं करते जो अनुकरणीय बन सके। यदि छोटे अफसर जनता को लूटते हैं तो बड़े अफसर सरकार से अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहते हैं। वे अपनी सरकार समझ कर उसकी बचत करना नहीं चाहते हैं और अपनी सुख-सुविधाओं को चादर से बाहर पैर निकाल कर बढ़ाना चाहते हैं।

यह नहीं होना चाहिये—हमको इस बात की प्रसन्नता है कि हमारी सरकार ने खद्दर के साथ भी अपनी शान और शासकीय वैभव को कायम रखा है, किन्तु इस बात का दुःख भी है कि उस वैभव का समान वितरण नहीं हुआ है। साधारण जनता का रहन-सहन का स्तर अभी ऊँचा नहीं उठा है यद्यपि उसके प्रयत्न हो रहे हैं। छोटी रियासतें विलय में आ गई हैं; उनके राजभवनों का विलास-वैभव जाता रहा, यह तो बुरा नहीं किन्तु कहीं कहीं साधारण सफाई का भी लोप हो गया है। राजमहल जनता के उपयोग की वस्तुएँ अवश्य बना दी जायँ किन्तु वे और उनके बाग-बगीचे शोभा की वस्तुएँ बनी रहें। उपयोगिता शोभा की विरोधिनी नहीं। इसके अतिरिक्त हमको थोड़ा यह भी दुःख है कि इस आवश्यक गौरव वैभव के नाम पर अपव्यय भी काफी हो रहा है और हमारे पैर सौर से बाहर निकलने को हो जाते हैं। उसके कारण छोटी तनुख्वाह वालों की हालत सुधर नहीं पाती है। दूसरी बात यह है कि वैभव-प्रदर्शन में स्वदेशी का ध्यान कम रखा जाता है। हमारे खद्दर की सादगी को नित-नवीन नमूने की, समस्त सुख-सुविधाओं से सुसज्जित कारें लज्जित कर देती हैं। उच्च अधिकारियों का वैभव-प्रदर्शन जनता के कर-भार को हलका करने में बाधक होता है। हम लोग इस वैभव में भारतीय संस्कृति को भी किसी अंश में भूल गये हैं। अंग्रेजी को आवश्यकता से अधिक आश्रय मिल रहा है।

राष्ट्र-जीवन को स्वच्छ बनाना नितान्तावश्यक—हमारे शासकों ने भय और आतंक का वातावरण बहुत अंश में मिटा दिया है यह बड़े सन्तोष की बात है, किन्तु वे अभी प्रेम और सेवा का वातावरण उपस्थित करने में समर्थ नहीं हुए हैं। हमारे पब्लिक

सर्वेन्ट्स सच्चे अर्थ में जनसेवक नहीं बन सके हैं। उन्होंने प्रीति का भय उत्पन्न नहीं किया है, भय की प्रीति चाहे कम कर दी हो। स्वराज्य ने दलबन्दी को कम नहीं किया है। यद्यपि अंग्रेजी सभ्यता और खान-पान के प्रभाव से जातिवाद कुछ कम हो गया है और साम्प्रदायिकता भी किसी अंश में काबू में आ गई है तथापि भाषा के बहाने प्रान्तीयता को प्रोत्साहन मिल रहा है। स्थानीय प्रेम और निज भाषा प्रेम सराहनीय है, क्योंकि वे एक प्रान्त को एक सूत्र में बाँधते हैं, किन्तु जहाँ वे पार्थक्य का बीज बोते हैं वहीं वे निन्द्य हो जाते हैं। राजनीतिक दलबन्दी भी एक प्रकार की नई तंग घरेलू दीवारें तैयार कर देती है। दलबन्दी के मूल में विभिन्न दलों की अहंभावना और एकाङ्गिता तो कारण है ही किन्तु सरकार ने भी इतनी उदारता दिखाने की कोशिश नहीं की कि लोग दलबन्दी के बन्धनों को भूल जायँ। इस उदारता की सीमा निर्धारित करना कठिन है, किन्तु यह अपेक्षित अवश्य है। हम लोग किसी दल की, जो विदेश का प्रश्रय नहीं लेता, देश-भक्ति में सन्देह नहीं कर सकते। विचार-धारा में अन्तर अवश्य है। उसके मूल में जो सत्य है उसको पकड़ने की कोशिश नहीं की जाती है। कोई दल नितान्त आश्रय पर नहीं खड़ा होता। सत्य का अंश सबमें होता है, उसके आधार पर हम एक दूसरे के निकट आ सकते हैं। अपने पक्ष को सत्ता के बल पर नहीं प्रेम के बल पर समझाने की आवश्यकता है। न्यूनताएँ तो बहुत हैं और उनके कारण भी उतने ही प्रबल हैं। उनमें कुछ पर हम वश पा सकते हैं। और कुछ प्रबल प्राकृतिक कारणों से हैं, उन पर काबू पाने के लिये समय लगेगा। हमको और हमारे आलोचकों को अधीर नहीं होना चाहिये। यह ठीक है कि अलाउद्दीन का चिराग हमारे पास नहीं है, किन्तु उनको हमें अपनी अकर्मण्यता का बहाना न बना लेना चाहिये।

इस शुभ अवसर पर प्रेम और सेवा भाव से भारत को सम्पन्न, समृद्ध और सशक्त बनाने का दृढ़ संकल्प करना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है। हमारे अभाव बहुत हैं। हम उनको एक साथ दूर नहीं कर सकते किन्तु उनके लिये सचेत रहना

और उनका अस्तित्व स्वीकार करना ही उनके दूर करने की पहली सीढ़ी है। इसलिये हमको ईमानदार और प्रयत्नशील रहना चाहिये। ईश्वर हमारी सहायता करेगा।

"हारिये न हिम्मत बिसारिये न राम"

['*नया भारत साप्ताहिक*' (१५ अगस्त १६५४)]

भारत के प्रथम चुनाव

१५ अगस्त सन् १६४७ को पूर्ण शान्तिमय साधनों द्वारा भारत ने विदेशी शासन के असह्य भार को अपने ऊपर से उतार कर शङ्ख ध्वनि के जयघोष के साथ स्वतन्त्रता के अरुणोदय के दर्शन किये। स्वतन्त्र भारत का संविधान बना और उसमें अपने को पूर्ण स्वामित्व के अधिकार प्राप्त स्वतन्त्र गणतन्त्र घोषित किया। हमारे नये संविधान में बिना किसी भेद-भाव के सबको वयस्क मताधिकार दिया गया है। इसके अनुकूल हमारे पहले चुनाव १६५२ के आरम्भ में हुए। यह प्रजातन्त्र राज्य का सबसे बड़ा प्रयोग था। इसमें सत्रह करोड़ नर-नारियों ने भाग लिया। सारा भारत ३२६३ चुनाव-क्षेत्रों में विभाजित किया गया; और उनमें २२४००० मतदान केन्द्र स्थापित किये गये। मतदान के लिये विशेष प्रकार की लोहे की पेटियाँ तैयार कराई गईं। मतों को गुप्त रखने की व्यवस्था की गई। पार्टियों के चिह्न निश्चित किये गये। मतदाताओं की सूचियाँ तैयार की गईं। हजारों लाखों अफसरों और कर्मचारियों की सेवाएँ इस कार्य में नियोजित की गईं।

चुनावों में धन और जनशक्ति का चाहे कितना ही व्यय अथवा अपव्यय हुआ हो किन्तु उनके द्वारा देश में एक नई जागृति की लहर उठी और राजनीतिक दलों में एक नई आत्म-चेतना आई। सन्धि-विग्रह के दाँव-पेच भी चले, किन्तु उनके कारण लोग जितने उत्पातों की आशंका करते थे वे सब निर्मूल-प्राय सिद्ध हुए। स्वतन्त्र भारत के प्रजातन्त्रात्मक शासन में वयस्क मताधिकार के इस विराट आयोजन की देश-विदेशों में सराहना हुई। इन्डोनेशिया के लोग निर्वाचन की शिक्षा लेने आये। हमारा मस्तक गर्व से ऊँचा हुआ।

पढ़े-लिखे लोगों की अपेक्षा ग्रामीण स्त्रियाँ तथा बे-पढ़े सरल स्वभाव वाले ग्रामीण लोग अधिक वोट देने आये। यद्यपि यत्र-तत्र ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ धर्मप्राण ग्रामीण भाई जूते उतारकर निर्वाचन कक्ष में घुसे और वोट भगवान् की पेटी पर

बिल्व-पत्र की भाँति मत-पत्र को 'ॐ नमो वोट देवाय' के अव्यक्त मन्त्र-पाठ के साथ समर्पित कर लौट आये (भगवान तो उनसे प्रसन्न हुए ही होंगे क्योंकि वे तो कह चुके हैं 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति''''') तथापि अधिकांश लोगों ने वोट देने के गर्व का अनुभव किया और अपनी सूझ-बूझ और बौद्धिक स्तर के अनुकूल उसके रहस्य में पैठ करने की कोशिश की। जनता में आतङ्क और अविश्वास की प्रवृत्ति का अभाव रहा। यदि ऐसा न होता तो मन्त्री लोग न हारते। जनता में आतङ्क का अभाव देश के लिये एक शुभ लक्षण है। जनता ने अपने को राजनिर्माता समझा। सेठ-साहूकारों, धनी मानी, राजाओं-समर्थकों ने, धवल-धौत खद्दरधारी नेताओं और बालों की माँग और पतलून की क्रीज को राजनीतिक और भौगोलिक सीमाओं से भी अधिक महत्व देने वाले बाबू लोगों और साहबों ने निर्धन मैले-फटे वस्त्रों और बिवाई भरे पैरों वाले निम्नवर्ग के लोगों की मट्टी-फूस की कुटियों पर दो-दो बार हाजिरी दी और अखाड़ों, चौपालों और हाट-बाटों, गन्दी और बदबूदार गलियों के देव-मन्दिर की भाँति चक्कर काटे। उनको देखकर मुझे गोस्वामी तुलसीदासजी की प्रसिद्ध चौपाई में कुछ हेर-फेर करने की आवश्यकता पड़ गई—

'कठिन भूमि कोमल पदगामी,
चुनाव हेत बन विचरहिं स्वामी।'

प्रोपेगैन्डा प्रभू के पूर्ण वैभव में दर्शन हुए। साइकिल से लगाकर जीप, मोटर सैलून, लारी, मोटर ट्रक और हवाई जहाज तक प्रायः सभी यान्त्रिक वाहनों का प्रयोग हुआ। केवल टैंकों की जरूरत नहीं पड़ी। बारह बरस बाद बैलों की जोड़ी के भी भाग जागे, यत्र-तत्र रथ और बैलगाड़ियों पर लाउडस्पीकरों द्वारा प्रचार हुआ। पेट्रोल के साथ धन का भी धुआँधार हुआ। प्रेस वालों के सोते भाग जागे। अखबारवालों ने आँधी के आम लूटे। पदा-कांक्षियों (उम्मीदवारों) के समर्थकों ने 'मुद्दई सुस्त और गवाह चुस्त' की लोकोक्ति का समर्थन करते हुए गले फाड़-फाड़कर लाउडस्पीकरों से प्रतिद्वन्द्विता की और पहाड़ों को ढा देने वाला जोश दिखाया। नेहरू सरकार को उखाड़ फेंकने की 'मशक फूँक जिमि मेरु उड़ाहीं' जैसी धमकियाँ चाहे हास्यास्पद क्यों न जँची

हों, किन्तु यह अवश्य मालूम होने लगा था कि जलूस के नेता की जीत कुरुक्षेत्र युद्ध में पाण्डवों की जीत से भी अधिक ध्रुव निश्चित थी।

चुनाव के उत्साह ने पदाकांक्षियों में एक अपूर्व उत्साह का सञ्चार कर दिया। पलङ्ग पीठ से नीचे पैर न रखने वालों ने मीलों का पैदल सफर किया और जिनके मुँह पर ताला पड़ा रहता था वे व्याख्यान वाचस्पति बन गये।

'मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम्,
यत्कृपा तमहं बन्दे चुनाव चक्रम्।'

पार्टियों ने एक दूसरे के प्रति खूब कीचड़ उछाली। होली के पहले ही होली का हुड़दङ्ग मच गया। गड़े मुर्दे उखाड़े गये। किसी को गद्दार कहा गया तो किसी को देशद्रोही! किसी को हैलेटभक्त तो किसी को अँग्रेजपरस्त। वैयक्तिक चरित्र पर भी कहीं छींटाकशी हुई। किन्तु कोई किसी का बुरा न मानता—

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।'

चुनाव चिन्हों की भी खूब हँसी उड़ाई जाती। कोई दीपक के लिये कहता चिराग तले अँधेरा, हँसिया और बालों के लिये कहा जाता बिना बोये-जोते ही फसल काटने आ बैठे, रेल के लिये कहा जाता कि पटरी से उतर गई, झोंपड़ी के लिये कहा जाता झोंपड़ी में बैठकर महलों का स्वप्न देखने चले हैं, साइकिल के लिये कहा जाता कि साइकिल में पंचर होगया और बैलों की जोड़ी के लिये कहते कि बैल मरखने होगये, सारी खेती चर गये। पदाकांक्षी सज्जन, जो जलूसों के गुल-गुपाड़े को तूफाने-बदतमीजी समझते थे, चुनाव की बलिवेदी पर अपनी शान-बान को बलिदान करने को तैयार होगये। सारे शहर के बाजारों की मुँह पर हवाइयाँ उड़ाते हुए परिक्रमा करते उनको देखकर कभी-कभी मुझे दया आ जाती थी और भगवान् को धन्यवाद देता था कि मुझे सम्पन्न न बनाया, नहीं तो मैं भी इस प्रलोभन में पड़कर दारुयोषित (कठपुतली) की भाँति नाचता। कभी तो वे लोग जब शाम को घर लौटते होंगे तो अपनी चारपाई पर लेट कर यह कहते होंगे—'जो मैं ऐसा जानती प्रीति करे दुख होय, नगर ढिंढोरा पीटती प्रीति न करिये कोय।'

सफल उम्मीदवारों की तो मेहनत सार्थक होगई और उनके समर्थकों ने सुख की साँस ली। ब्याह के भोर की भाँति उनको लाउडस्पीकरों और मोटरों के बिल चुकाने होंगे और जो हारे हैं उनके लिये तो पूर्ण सहानुभूति के साथ यही कहा जायगा—'माया मिली न राम।' इस स्थिति से बचने के लिये बहुतों ने बैठ जाना चाहा किन्तु आशा बड़ी मायाविनी है। प्राप्त के त्याग से अप्राप्त और अनिश्चित एवं काल्पनिक लाभ का त्यागना बहुत कठिन होता है। पद की लालसा को छोड़ते भी दुख और न छोड़ते भी दुख—'भई गति साँप छछूँदर केरी।' हारे हुए उम्मीदवारों ने अपनी हार मुस्कराते हुए मुख से स्वीकार की है—'हानि-लाभ जीवन-मरण यश-अपयश विधि हाथ' की उक्ति में उनको आत्म-सन्तोष तो मिलता ही है, किन्तु हार के कारणों का विश्लेषण करने पर अन्य बातें भी मिल जाती हैं। कोई साथियों और समर्थकों की धोखेबाजी को रोते हैं तो कोई जनता की मूर्खता को कोसते हैं। कोई कहते हैं औरों में इतना त्याग नहीं कि संयुक्त मोर्चा बनाया जा सके। किन्तु प्रश्न यह होता है कि नाइयों की बरात में जहाँ ठाकुर ही ठाकुर होते हैं वहाँ कौन अपने को छोटा समझे! सभी अपनी खीज को छिपाने के लिये कहते हैं—हम तो सिद्धान्त की लड़ाई लड़े थे। कांग्रेस से हमारा विरोध नहीं, अयोग्य उम्मीदवारों का विरोध था। इसमें सत्य की मात्रा अवश्य है, क्योंकि कांग्रेस ने सब जगह उम्मीदवारों की योग्यता का ध्यान कम दिया है और कांग्रेस के प्रति सेवाओं को अधिक महत्व दिया है। ऐसे पदाकांक्षियों की सफलता का श्रेय कांग्रेस पार्टी के पुण्य प्रताप को ही है। हारे हुए उम्मीदवारों के साथ पूर्ण सहानुभूति है क्योंकि किसी की महत्वाकांक्षाओं पर तुषारपात होते अच्छा नहीं लगता है, किन्तु यह कहना पड़ेगा कि यह दुनियाँ इतनी साधन-सम्पन्न नहीं है कि सबकी महत्वाकांक्षाएँ सफल हो सकें।

चुनाव ने उम्मीदवारों के सामने, चाहे वे कांग्रेस के हों और चाहे और किसी पार्टी के हों, एक आइना रख दिया है जिसमें वे अपनी लोकप्रियता और लोकसम्मान का चित्र देख सकते हैं। सबको अपनी-अपनी थाह मिल गई होगी, यदि स्वार्थ ने आँखों

पर पर्दा न डाला हो। दूसरी पार्टी का प्रोपेगैन्डा बहुत अंश में किसी पदाकांक्षी की असफलता के लिये उत्तरदायी हो सकता है, किन्तु वे लोग प्रायः अपनी योग्यता, शक्ति और लोकप्रियता के अनुमान के आधार का अतिक्रमण कर जाते हैं—कहीं-कहीं तो उसी मात्रा में जिस मात्रा में नारद-मोह प्रसङ्ग में श्री नारदजी ने अपनी सुन्दरता का किया था। यदि ऐसा न करते तो वे बहुत से अपव्यय से बच जाते। ये चुनाव कांग्रेस के लिये भी नेत्रोन्मीलक हुए हैं। जिन पार्टियों को कांग्रेस नगण्य समझती थी वे आगे आ गईं और उनके उम्मीदवारों ने कांग्रेस के उम्मीदवारों को नीचा दिखाया और जो लोग कांग्रेस को मरा हुआ समझते थे उनको भी अपने मुँह की खानी पड़ी।

बहुत सी जगह तो जैसे उत्तर प्रदेश और बिहार में 'यथा धाता पूर्वमकल्पयत्' की बात रही। कांग्रेस का बाहुल्य के साथ बहुमत रहा और अधिकांश मंत्री थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ लौट आये। दो-तीन स्थानों में जैसे मद्रास, त्रावनकोर-कोचीन आदि में नई विश्वामित्री सृष्टि रची जाने से बाल-बाल बच गई। किन्तु केन्द्र में बहुमत कांग्रेस का ही है और केन्द्रीय सत्ता कांग्रेस के हाथ में ही रही। जहाँ कांग्रेस को सब पार्टियों के मुकाबले में बहुमत नहीं प्राप्त है वहाँ भी अकेली पार्टी में उसके सदस्य सबसे अधिक हैं। ईमानदारी के चुनाव में पार्टियों की हार-जीत इतनी ही स्वाभाविक है जितनी कि दिन के बाद रात का आना और रात के बाद दिन का होना। कांग्रेस की विफलता कांग्रेस सरकार द्वारा बनाये हुए नियमों की निष्पक्षता तथा चुनाव अधिकारियों की ईमानदारी की द्योतक है। चुनाव के दिनों में कांग्रेस सरकार की ओर से पूर्णरूपेण वाणी की स्वतन्त्रता रही। कांग्रेस को लोगों ने जी भरके कोसा। इस कोसने में ऐसे लोगों ने भी भाग लिया जिनके निकट सम्बन्धी सरकार में उच्च पदाधिकारी थे। ऐसे लोग कांग्रेस के विरुद्ध चुनाव भी लड़े। यह कांग्रेस सरकार की तटस्थता का अच्छा प्रमाण है।

कांग्रेस की जीत पर मुझको प्रसन्नता है क्योंकि उसकी बागडोर जिनके हाथ में है उनके प्रति मेरा विश्वास है। कांग्रेस सरकार की अल्पसंख्यकों के प्रति उदारता ने उसकी साख विदेशों

में जमा रक्खी है। कांग्रेस ने कुछ दीर्घकालीन योजनाएँ बनाई हैं, उनको पूर्णता को पहुँचाने के लिये उसको अवसर दिया जाय। कांग्रेस शासन की विफलताएँ कुछ प्राकृतिक कारणों से भी हैं, जिनको दूसरी पार्टी भी सहज में दूर नहीं कर सकती है। कांग्रेस ने फिर देश की बागडोर हाथ में ली है। आशा है कि वह पिछली विफलताओं को दूर करने के लिये कटिबद्ध हो जायगी और नव-निर्माण का सूत्रपात करेगी।

[*'दैनिक हिन्दुस्तान'* (१७ फरवरी १९५२)]

सांस्कृतिक

भारतीय संस्कृति

'संस्कृति' शब्द का सम्बन्ध संस्कार से है जिसका अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना। अङ्गरेजी शब्द 'कल्चर' में वही धातु है जो 'एग्रीकल्चर' में है। इसका भी अर्थ 'पैदा करना, सुधारना' है। संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं और जाति के भी। जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं। संस्कृति एक समूहवाचक शब्द है। जलवायु के अनुकूल रहन-सहन की विधियाँ और विचार-परम्पराएँ जाति के लोगों में दृढ़मूल हो जाने से जाति के संस्कार बन जाते हैं। इनको प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी प्रकृति के अनुकूल न्यूनाधिक मात्रा में पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त करता है। ये संस्कार व्यक्ति के घरेलू जीवन तथा सामाजिक जीवन में परिलक्षित होते हैं। मनुष्य अकेला रहकर भी इनसे छुटकारा नहीं पा सकता। ये संस्कार दूसरे देश में निवास करने अथवा दूसरे देशवासियों के सम्पर्क में आने से कुछ परिवर्तित भी हो सकते हैं और कभी-कभी दब भी जाते हैं; किन्तु अनुकूल वातावरण प्राप्त करने पर फिर उभर आते हैं।

संस्कृति का बाह्य पक्ष भी होता है और आन्तरिक भी। उसका बाह्य पक्ष आन्तरिक का प्रतिबिम्ब नहीं तो उससे सम्बन्धित अवश्य रहता है। हमारे बाह्य आचार हमारे विचारों और मनोवृत्तियों के परिचायक होते हैं। संस्कृति एक देश-विशेष की उपज होती है, उसका सम्बन्ध देश के भौतिक वातावरण और उसमें पालित, पोषित एवं परिवर्द्धित विचारों से होता है।

भाषा संस्कृति का कुछ बाहरी अंग सा है, फिर भी वह हमारी जातीय मनोवृत्ति की परिचायिका होती है। 'कुशल' शब्द को ही लीजिये; वह हमारी उस संस्कृति की ओर संकेत करता है जिसमें कि पूजा-विधान की सम्पन्नता के लिये कुश लाना एक दैनिक कार्य बना हुआ था। जो कुश ला सकता था वह तन्दुरुस्त भी और होशियार भी समझा जाता था। 'प्रवीण' का सम्बन्ध

वीणा से है—प्रकर्षः वीणायां प्रवीणः। हमारी भाषा में 'गो' से सम्बन्धित शब्दों का बाहुल्य है; जैसे गोधूलि-वेला (जिसमें विवाह जैसे शुभ कार्य सम्पन्न होते हैं), गोष्ठी, गवेषणा (गाय की चाह या खोज के अर्थ-विस्तार द्वारा गवेषण का अर्थ 'खोज' हो गया), गवाक्ष (गौ की आँख—खिड़कियों का आकार शायद पहले गोल होता होगा), गुरसी (अँगीठी गोरसी से बनी है जिसमें गौ का दूध औटाया जाता था), गोपुच्छ (नाटक को गौ की पूँछ के समान बताया गया है—अन्त में आकर मूल कथा ही रह जाती है और उसका फैलाव बन्द हो जाता है), गोमुखी (जिसके भीतर माला फेरी जाती है और जिससे जल गिरता है उसे भी कहते हैं), गोपन (छिपाना—यह शब्द भी गौ से सम्बन्ध रखता है; जो वस्तु पाली जाती है, सुरक्षित रक्खी जाती है वह छिपाकर भी रक्खी जाती है) आदि। यह बाहुल्य हमारे समाज में गौ की प्रधानता का द्योतक है।

भारत गरम देश है। यहाँ हृदय को शीतल करना महावरा है, किन्तु आंग्ल देश ठण्डा है, वहाँ की परिस्थिति के अनुकूल warm reception और cold treatment आदि महावरे हैं। Breaking the ice मौन भङ्ग करने के अर्थ में आता है। Ice ठंडेपन का प्रतीक है और मौन ठंडेपन का ही द्योतक है। अँग्रेजी का प्रयोग 'killing two birds with one stone' वहाँ की हिंसात्मक प्रवृत्ति का परिचायक है। हमारे यहाँ इसका अनुवाद हुआ है 'एक ढेले में दो पंछी'; किन्तु उसमें वह मधुरता नहीं जो 'एक पंथ दो काज' में है। उसके कहते ही हमको "गोरस बेचन हरि मिलन, एक पंथ दो काज" की बात याद आ जाती है।

हमारी रहन-सहन, पोशाक आदि सभी बातें जातीय परिस्थिति, देश के वातावरण और देश की भावनाओं से सम्बन्धित हैं। जमीन पर बैठना, हाथ से खाना, नहाकर खाना, लम्बे-ढीले कपड़े पहनना, बेसिले कपड़ों को अधिक शुद्ध मानना, ये सब चीजें देश की आवश्यकताओं और आदर्शों के अनुकूल हैं। गरम देश में पृथ्वी का स्पर्श बुरा नहीं लगता। इसीलिये यहाँ जूतों का इतना मान नहीं है जितना कि विलायत में। यहाँ हाथ से खाने का चलन इसलिये हुआ कि यहाँ हर समय हाथ धोये जा सकते

हैं। अन्न को भी देवता माना जाता है, उससे सीधा सम्पर्क अधिक सुखद और स्वाभाविक समझा जाता है। यहाँ नहाने के लिये जल की कमी नहीं और नहाने की आवश्यकता भी अधिक होती है, इसलिये नहाना धर्म का अङ्ग हो गया है।

इस देश में शरीर को अधिक महत्व नहीं दिया जाता है। इसीलिये लम्बे कपड़ों को, जो शरीर को उभार में न लावें और उसे पूर्णतया ढक लें, अधिक महत्व दिया जाता है। बेसिले कपड़े जैसे धोती आदि नित्य सहज में धोये जा सकते हैं। उनमें सीवन का भी किसी प्रकार का मैल नहीं रह सकता है, इसीलिये वे अधिक पवित्र माने जाते हैं। हमारे यहाँ नंगे सर की अपेक्षा सर ढकना अधिक सांस्कृतिक समझा जाता है। ऐसा सभी पूर्वी देशों में है। यहूदियों के प्रार्थना-भवनों में भी नंगे सर नहीं बैठते। बाल भी शरीर के अंग होने के कारण ढके जाने की अपेक्षा रखते हैं।

इसी प्रकार देश के वातावरण और रुचि के अनुकूल ही मांगल्य वस्तुओं का विधान किया जाता है। फूलों में हमारे यहाँ कमल को सबसे अधिक महत्व दिया जाता है। इसका सम्बन्ध जल और सूर्य दोनों से है। वह जल में रहता है और सूर्य को देखकर प्रसन्न होता है। जल और सूर्य देश की महती आवश्यकताओं में से हैं, इसका दोनों से सम्बन्ध है। कमल ही सब प्रकार के शारीरिक सौन्दर्य का उपमान बनता है—चरण-कमल, नेत्र-कमल, मुख-कमल आदि कमल की महत्ता के द्योतक हैं। "नव कंज लोचन कंज मुख कर कंज पद कंजारुणम्" इस छन्द में सभी अंग कमल बन गये हैं।

आम्र (रसाल), कदली, दूर्वादल, नारियल, श्रीफल (शरीफा) आदि को मांगल्य कार्यों में प्रमुख स्थान दिया जाता है। आम यहाँ का विशेष मेवा है। इसमें रस भरा रहता है और इसका बौर बसन्त का अग्रदूत है। हमारे यहाँ अश्वत्थ (पीपल) को भी विशेष महत्ता दी गई है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् की विभूतियों में अश्वत्थ को भी माना गया है—'अश्वत्थः सर्व वृक्षाणां'। भारतीय संस्कृति में जिन-जिन वस्तुओं को महत्ता दी गई है वे सब श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् की विभूतियों के रूप में आ गई हैं। भगवान् बुद्ध को

भी अश्वत्थ वृक्ष के ही नीचे बुद्धत्व प्राप्त हुआ था। स्थावर वस्तुओं में हिमालय को, सरिताओं में गंगा को, पक्षियों में गरुड़ को तथा ऋतुओं में वसन्त ऋतु को महत्ता दी गई है। स्त्रीलिंग चीजों में कीर्ति, वाणी, स्मृति, बुद्धि और धृति (धैर्य) को महत्ता दी गई है। यह भी हमारी जातीय मनोवृत्ति का परिचायक है।

यह तो रहे संस्कृति के बाह्य अंग। संस्कृति के आन्तरिक अंगों पर भारत में विशेष बल दिया गया है। धर्मग्रन्थों में अच्छे मनुष्यों के जो लक्षण बतलाये गये हैं, मनुस्मृति में जो धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध धर्म के दश लक्षण बतलाये गये हैं वे सब भारतीयों की मानसिक और आध्यात्मिक संस्कृति के अङ्ग हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में दैवी सम्पदावालों के लक्षण दिये गये हैं जिनमें 'अभय' को सबसे पहला स्थान दिया गया है। स्थितप्रज्ञ के लक्षण (दूसरा अध्याय), सात्विक चीजों के लक्षण (सत्रहवाँ अध्याय) आदि सब भारतीय संस्कृति के अनुकूल सभ्य और शिष्ट पुरुष के लक्षण हैं। इसलिये सभी महाकाव्य ऐसे लक्षणों से भरे पड़े हैं। 'रघुवंश' में रघुकुल के राजाओं के जो गुण बतलाये गये हैं, वे न केवल भारत के सांस्कृतिक आदर्शों के परिचायक हैं, बल्कि उनसे अतीत का भव्य चित्र हमारे सम्मुख आ जाता है। देखिये—

"दूसरों को दान देने के लिये ही जो सम्पन्न बनते थे (उनका धन दानार्थ था), सत्य के लिये ही मितभाषी बने हुए थे (मिथ्याभिमान के कारण वे कम बातचीत नहीं करते थे), जो यश के लिये विजय प्राप्त करते थे (धन-राज्य छीनने के लिये नहीं) [यश को अपने यहाँ अधिक महत्व दिया गया है। हमारे पूर्वज यश के लिये संसार की समस्त सम्पदा और वैभव त्यागने को सदैव तत्पर रहते थे। अर्जुन से भी श्रीकृष्ण ने अन्तिम अपील यही की थी—'यशोलभस्व'], सन्तान के लिये (कामोपभोग के लिये नहीं, वरन् पितृ-ऋण चुकाने और समाज को अच्छे नागरिक देने के अर्थ) जो गृहस्थ बनते थे, बाल्यावस्था में जो विद्याध्ययन करते थे, यौवन में विषय-भोग करनेवाले, वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति को धारण करने वाले और योग द्वारा शरीर को त्यागने वाले (आजकल तो रोगे-

गान्ते तनुत्यजाम की बात हो गई है) ऐसे रघुवंशियों के कुल का मैं (कालिदास) वर्णन करता हूँ यद्यपि मेरे पास वाणी का वैभव अधिक नहीं है।"

इससे पता चलता है कि प्राचीन भारत में त्याग, सत्य, यश, आश्रम-विभाग और सामाजिक कल्याण की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। संक्षेप में भारतीय संस्कृति के मुख्य-मुख्य अंग इस प्रकार बतलाये जा सकते हैं :—

(१) *आध्यात्मिकता*—इसके अन्तर्गत नश्वर शरीर का तिरस्कार, परलोक, सत्य, अहिंसा, तप आदि आध्यात्मिक मूल्यों को अधिक महत्व देना, आवागमन की भावना, ईश्वरीय न्याय में विश्वास आदि बातें हैं। हमारे यहाँ की संस्कृति तपोवन-संस्कृति रही है जिसमें विस्तार ही विस्तार था—'प्रथम साम रव तव तपोवने प्रथम प्रभात तव गगने'। विस्तार के वातावरण में आत्मा का संकुचित रूप नहीं रह सकता था इसी के अनुकूल आत्मा का सर्वव्यापक विस्तार माना गया है। इसीलिये हमारे यहाँ सर्वभूत हित पर अधिक महत्व दिया है—'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति'।

कीरी और कुञ्जर में एक ही आत्मा का विस्तार देखा जाता है। इसीसे गांधीजी की सर्वोदय की भावना को बल मिला। हमारे यहाँ के मनीषी 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः' का पाठ पढ़ते थे।

नश्वर शरीर के तिरस्कार की भावना हमारे यहाँ के लोगों को बड़े-बड़े बलिदानों के लिये तैयार कर सकी। शिवि, दधीच, मोरध्वज इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। महाराज दिलीप ने गुरु की प्रसन्नता के लिये नन्दिनी नाम की गौ को चराने का व्रत धारण किया था। उसकी सिंह से रक्षा करने के लिये वे अपने प्राणों का भी उत्सर्ग करने को तैयार हो जाते हैं। वे सिंह से कहते हैं कि यदि तुम मुझ पर दया ही करना चाहते हो तो मेरे यश-शरीर पर दया करो; पंचभूतों से बने हुए नाशवान शरीर के पिण्डों पर मुझ जैसे लोगों की आस्था नहीं होती।

हमारे यहाँ का मार्ग साधना का मार्ग रहा है और तप,

त्याग और संयम को महत्ता दी गई है। क्या बौद्ध, क्या जैन और क्या वैष्णव, सभी लोग इन गुणों की सराहना करते हैं।

हमारे यहाँ की आध्यात्मिकता मन और बुद्धि से परे जाती है। वह आत्मा का साक्षात् अनुभव करना चाहती है। यही भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों का अन्तर है। हमारे दर्शन का अर्थ आत्मा का दर्शन ही है, पाश्चात्य देशों में वह बुद्धि-विलास के रूप में रहा है।

(२) *समन्वय बुद्धि*—आत्मा की एकता के आधार पर हमारे यहाँ अनेकता में एकता देखी गई है।

इसीसे मिलती-जुलती समन्वय-भावना है। हमारे विचारकों ने सभी वस्तुओं में सत्य के दर्शन किये हैं। उनका धर्म अविरोधी धर्म रहा है।

इसीलिये हमारे यहाँ धर्म-परिवर्तन को विशेष महत्व नहीं दिया गया है। फिर भी संस्कृतियों का आदान-प्रदान हुआ है। तुलसीदासजी जैसे महात्मा ने, जो भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं, समन्वय बुद्धि से ही काम लिया था। उन्होंने शैव और वैष्णवों का, ज्ञान और भक्ति का तथा अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का समन्वय किया था। आधुनिक कवियों में प्रसादजी ने अपनी 'कामायनी' में ज्ञान, इच्छा और क्रिया का समन्वय किया है। मानव-कल्याण में ज्ञान, इच्छा, क्रिया का पार्थक्य ही बाधक होता है।

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है, इच्छा पूरी क्यों हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके, यह विडम्बना है जीवन की॥

(३) *वर्णाश्रम विभाग*—हमारी संस्कृति में कार्य-विभाजन को बड़ा महत्व दिया गया है। समाज को भी चार भागों में बाँटा है और मानव-जीवन को भी। सामाजिक विभाजन बढ़ते-बढ़ते संकुचित और अपरिवर्तनीय बन गया। अपरिवर्तनीय बनने में भी इतनी हानि न थी यदि सबका महत्व सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में एकसा मान लिया गया होता। कुछ लोगों ने श्रेष्ठता का एकाधिकार कर लिया और 'पण्डिताः समदर्शिनः' की बात भूल गये। हमारे सभी प्रचारकों और सुधारकों ने इसके विरुद्ध

आवाज उठाई और उन सब में जोरदार आवाज रही भगवान् गौतम बुद्ध, सन्त कबीर और महात्मा गांधी की। पुरुष सूक्त ने तो चारों वर्णों को एक ही विराट् शरीर का अंग माना था—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः'। शूद्र भगवान् के चरणों से निकले। इसी आधार पर कविवर मैथिलीशरणजी गुप्त ने उन्हें सुरसरि का सहोदर कहा है। एक ही शरीर के विभिन्न अंगों में कोई ऊँचा-नीचा नहीं होता। सामाजिक संगठन का हमारे यहाँ बहुत ऊँचा आदर्श रक्खा गया था। वैदिक ऋषियों की तो यही भावना थी, लेकिन हम उसको भुला बैठे।

(४) *अहिंसा, करुणा, मैत्री और विनय*—इन चार गुणों को इसलिये ही रखा गया है कि इनके मूल में अहिंसा की भावना है और करुणा, मैत्री तथा विनय अहिंसा व्रत के पालन में सहायक होते हैं। हिंसा केवल वध करने में ही नहीं होती है वरन् किसी का उचित भाग ले लेने और दूसरे का जी दुखाने में भी। इसीलिये हमारे यहाँ 'सत्यं ब्रूयात्' के साथ 'प्रियं ब्रूयात्' का पाठ पढ़ाया गया है। करुणा प्रायः छोटों के प्रति होती है, मैत्री बराबर वालों के प्रति और विनय बड़ों के प्रति, किन्तु हमको सभी के प्रति शिष्टता का व्यवहार करना चाहिये। विनय शील का एक अंग है, उसको बड़ा आवश्यक माना गया है। भगवान् कृष्ण ने ब्राह्मण के विशेषणों में विद्या के साथ विनय भी लगाया—'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे'। विनय भारतीय संस्कृति की एक विशेषता है। असांस्कृतिक लोग ही उद्धत होते हैं।

(५) *प्रकृति प्रेम*—भारतवर्ष पर प्रकृति की विशेष कृपा रही है। यहाँ सभी ऋतुएँ अपने समय पर आती हैं और पर्याप्त काल तक ठहरती हैं। ऋतुएँ अपने अनुकूल फल-फूलों का सृजन करती हैं। धूप और वर्षा के समान अधिकार के कारण यह भूमि शस्य-श्यामला हो जाती है। यहाँ का नगाधिराज हिमालय कवियों को सदा से प्रेरणा देता आ रहा है और यहाँ की नदियाँ मोक्षदायिनी समझी जाती रही हैं। यहाँ कृत्रिम धूप और रोशनी की आवश्यकता नहीं पड़ती। भारतीय मनीषी जङ्गल में रहना पसन्द करते थे। प्रकृति-प्रेम के ही कारण यहाँ के लोग पत्तों में खाना पसन्द

करते हैं। वृक्षों में पानी देना एक धार्मिक कार्य समझते हैं। सूर्य और चन्द्र दर्शन नित्य और नैमित्तिक कार्यों में शुभ माना जाता है। यहाँ के पशु-पक्षी, लता-गुल्म और वृक्ष तपोवनों के जीवन का एक अंग बन गये थे, तभी तो शकुन्तला के पतिगृह जाते समय उसके जाने की उन सबों से आज्ञा चाहते हैं—

पीछे पीवत नीर जो पहले तुमको प्याय।
फूल-पात तोरति नहीं गहने हू के चाय॥
जब तुव फूलन के दिवस आवत हैं सुखदान।
फूली अङ्ग समाति नहिं उत्सव करत महान॥
सो यह जाति शकुन्तला आज पिया के गेह।
आज्ञा देहु पयान की तुम सब सहित सनेह॥

हमारी संस्कृति इतने में ही संकुचित नहीं है। पारिवारिकता पर हमारी संस्कृति में विशेष बल दिया गया है। भारतीय संस्कृति में शोक की अपेक्षा आनन्द को अधिक महत्त्व दिया गया है। इसलिये हमारे यहाँ शोकान्त नाटकों का निषेध है। भारत में आतिथ्य को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। अतिथि को भी देवता माना गया है—'अतिथि देवोभव'।

हमारी संस्कृति के मूल अंगों पर प्रकाश डाला जा चुका है। भारत में विभिन्न जातियों के पारस्परिक सम्पर्क में आने से संस्कृति की समस्या कुछ जटिल हो गई। पुराने जमाने में द्रविड़ और आर्य संस्कृति का समन्वय बहुत उत्तम रीति से हो गया था। इस समय मुस्लिम और अंग्रेजी संस्कृतियों का और मेल हुआ है। हम इन संस्कृतियों से अछूते नहीं रह सकते हैं। इन संस्कृतियों में से हम कितना लें और कितना छोड़ें, यह हमारे सामने बड़ी समस्या है। अपनी भारतीय संस्कृति को तिलाञ्जलि देकर इनको अपनाना आत्महत्या होगी। भारतीय संस्कृति की समन्वयशीलता यहाँ भी अपेक्षित है किन्तु समन्वय में अपना न खो बैठना चाहिये। दूसरी संस्कृतियों के जो अंग हमारी संस्कृति में अविरोध रूप से अपनाये जा सकें उनके द्वारा अपनी संस्कृति को सम्पन्न बनाना आपत्तिजनक नहीं। अपनी संस्कृति चाहे अच्छी हो या बुरी, चाहे दूसरों की संस्कृति से मेल खाती हो या न खाती हो, उससे लज्जित होने की कोई बात नहीं।

दूसरों की संस्कृतियों में सब बातें बुरी ही नहीं हैं। हमारी संस्कृति में धार्मिक कृत्यों में एकान्त-साधना पर अधिक बल दिया गया है, यद्यपि सामूहिक प्रार्थना का अभाव नहीं है। मुसलमानी और अँग्रेजी सभ्यता में सामूहिक प्रार्थना को अधिक आश्रय दिया गया, यद्यपि एकान्त-साधना का वहाँ भी अभाव नहीं। हमारे कीर्तन आदि तथा महात्मा गांधी द्वारा परिचालित प्रार्थना-सभाएँ धर्म में एकत्व की सामाजिक भावना को उत्पन्न करती आयी हैं। हमारे यहाँ सामाजिकता की अपेक्षा पारिवारिकता को महत्व दिया गया है। पारिवारिकता को खोकर सामाजिकता को ग्रहण करना तो मूर्खता होगी किन्तु पारिवारिकता के साथ-साथ सामाजिकता बढ़ाना श्रेयस्कर होगा। भाषा और पोशाक में अपनपत्व खोना जातीय व्यक्तित्व को तिलाञ्जलि देना होगा। हमें अपनी सम्मिलित परिवार की प्रथा को इतना न बढ़ा देना चाहिये कि व्यक्ति का व्यक्तित्व ही न रह जाय और न व्यक्तित्व को इतना महत्त्व देना चाहिये कि गुरुजनों का आदर-भाव भी न रहे और पारिवारिक एकता पर कुठाराघात हो। कपड़े और जूतों की सभ्यता और कम से कम कपड़ा पहनने और नंगे पैर रहने की सभ्यता में भी समन्वय की आवश्यकता है। अँग्रेजी सभ्यता में जूतों का विशेष महत्त्व है किन्तु उसे अपने यहाँ के चौका और पूजागृहों की सीमा पर आक्रमण न करना चाहिये। अँग्रेजी सभ्यता चीनी और काँच के बर्तनों की सभ्यता है। हमारी सभ्यता मिट्टी और पीतल के बर्तनों की है। हमारी सभ्यता स्वास्थ्य विज्ञान के नियमों के अधिक अनुकूल है। यदि हम कुल्हड़ों के कूड़े का अच्छा बन्दोबस्त कर सकें तो उससे अच्छी कोई चीज नहीं है। आलस्य को वैज्ञानिकता पर विजय न पाना चाहिये। अँग्रेजी संस्कृति से भी सफाई और समय की पाबन्दी की बहुत सी बातें सीखी जा सकती हैं, किन्तु अपनी संस्कृति के मूल अङ्गों पर ध्यान रखते हुए समन्वय-बुद्धि से काम लेना चाहिये। समन्वय द्वारा ही संस्कृति क्रमशः उन्नति करती रही है और आज भी हमें उसे समन्वयशील बनाना है।

['मुंशी अभिनन्दन ग्रन्थ']

ब्रज की जीवन-ज्योति—गौ

भारतीय समाज में गो का विशेष महत्व है। गौ से धर्म और अर्थ दोनों की साधना होती है। गौ स्वयं पूज्य है और वह यज्ञादि के लिये घृत और प्रवहन, खेती के लिये बैल, तथा भोजन के लिये घी, दूध, खोआ और मलाई-मक्खन देकर साधन-रूप से भी मान्य है। इसी कारण हमारी भाषा में अनेक शब्द गौ से सम्बन्धित हैं। गोष्ठी, गवेषणा (जिसका शाब्दिक अर्थ गाय की चाह या खोज है, फिर अर्थ-विस्तार से सब प्रकार की खोज के लिये प्रयुक्त होने लगा), गोपन (जिस चीज की रक्षा की जाय वह छिपाकर रखी जाती है, इससे गौ की रक्षा का अर्थ छिपाना हो गया), गवाक्ष (खिड़की जो शायद गौ की आँख की भाँति गोलाकार होती थी), गोमुखी, गोधूलि (जिस वेला में विवाह जैसे शुभ कार्य होते हैं), गुरसी (बुन्देलखंडी में अंगीठी को कहते हैं; उसमें गोरस औटाये जाने के कारण उसका नाम गुरसी पड़ा) आदि शब्द इसके प्रमाण हैं। गौ एक भारतीय को जीवन भर और उसके मरण के पश्चात् भी तारती है। गौओं से ही मनुष्य की सम्पत्ति आँकी जाती थी। भगवान् कृष्ण के बाल-सखा खेल का दाँव माँगते हुए समता भाव से कहते हैं—'अति अधिकार जनावत यातै जातै अधिक तुम्हारे गैयाँ।' मैया यशोदा भी कृष्ण को समझाते हुए गोधन की ही सौगन्ध खाती हैं—'गोधन की सौं हौं माई तू पूत।' अँग्रेजी शब्द पिक्यूनरी पशु के ही सगोत्री शब्द पिकस से बना है।

दधि और माखन की चोरी—ब्रज की संस्कृति और वहाँ का जीवन गौ-प्रधान था। श्रीमद्भागवत में उद्धवजी की ब्रज-यात्रा के अवसर पर उन्होंने हाल की ब्याई हुई गायों को दूध के भार से झुकी हुई भी अपने बच्चों की तरफ दौड़ती देखा था और सफेद रंग के बछड़े इधर-उधर कूदते हुए बड़े सुहावने लगते थे। गायों के

दुहने के घर्र-घर्र रव और बाँसुरियों की मधुर ध्वनि से ब्रज शब्दायमान हो रहा था।

धावन्तीभिश्च वास्राभिरुधोभारैः स्ववत्सकान्
इतस्ततो विलङ्घद्भिर्गोवत्सैर्मण्डितं सितैः।
गोदोहशब्दाभिरवं वेणूनां निस्वनेन च॥
(दशम स्कन्ध ४६। ६, १०)

यह तो सायंकाल का दृश्य था। प्रातःकाल के चार बजे से दधि-मन्थन प्रारम्भ हो गया था। ब्रज-युवतियों के मणिमय आभूषण दीपक के प्रकाश में और भी चमक उठे थे। मथानी की रस्सी के घर्षण से भुजाओं के कंकण शब्दायमान हो रहे थे और उनके अंग विशेष तथा हार और कुण्डल हिल रहे थे तथा उनके कपोलों पर थोड़ी लाली आ गई थी। कमलनयनी ब्रजाङ्गनाएँ श्रीकृष्ण का यश-गान कर रही थीं। उसी ध्वनि में दधि-मन्थन की ध्वनि मिल कर आकाश-मण्डल तक पहुँच रही थी और चारों दिशाओं का अमंगल-नाश कर रही थी।

दधि और माखन के लोभ ही के कारण श्रीकृष्ण उलूखल से बाँधे गये और उनका नाम दामोदर (अर्थात् दाम या रस्सी जिसके उदर में है) पड़ा। दधि मथती हुई ग्वालिनों के सहज सौन्दर्य का वर्णन सूरदासजी ने जी खोलकर किया है। यहाँ सौन्दर्य गुलाब के झामें से खरोंच पड़नेवाली सुकुमारता का नहीं है, वरन् कार्य में संलग्नता के स्वस्थ सौन्दर्य का है। नीचे के पदों में सूर द्वारा अंकित शब्द-चित्रों में श्रीमद्भागवत के उक्त भाव की क्षीण छाया देखी जा सकती है, किन्तु सूर ने जो गति और शब्द के चित्र दिये हैं वे अनुपम हैं—

दधि लै मथति ग्वालि गरबीली।
रुनक-झुनक कर कंकन बाजै, बाँह डुलावत ढीली।
भरी गुमान बिलोवति ठाढ़ी, अपनैं रंग रँगीली।
छबि की उपमा कहि न परति है, या छबि की जु छबीली।
अति बिचित्र गति कहि न जाइ अब, पहिरे सारी नीली।
सूरदास प्रभु माखन माँगत, नाहिं न देति हठीली॥

एक चित्र और देखिये—

देखी हरि मथति ग्वालि दधि ठाढ़ी।
दिन थोरी, भोरी, अति गोरी, देखत ही जु स्याम भए चाढ़ी।
कर्षति है दुहू करनि मथानी, सोभा रासि भुजा शुभ बाढ़ी।

सूरदास का वर्णन जितना विशद और संश्लिष्ट है, उतना श्रीमद्भागवत का भी नहीं। सूर के वर्णन में उनके प्रभु सामने खड़े हैं। सूर ने गोपी को खड़ा करके उससे दही मथाया है, जिससे उसका यौवन पूर्णरूपेण उभार में आ गया है। सूर ने 'दिन थोरी, भोरी' कहकर एक मुग्धा नायिका का रूप दे दिया है। भोलापन नायिकाओं का अलंकरण माना गया है। सूर ने उसे नीली साड़ी भी पहनाई है, जो प्रेम का पक्का रंग है। ज्यों-ज्यों वह धुलता है, निखरता है। उसकी चटक नहीं घटती और न वह फीका पड़ता है। उसके रंग-रंगीलेपन में श्रीमद्भागवत के चित्र का भी रंग कुछ फीका पड़ जाता है। भागवतकार का भी दोष नहीं है। वहाँ उस सौन्दर्य को देखने वाले केवल व्यासजी ही थे। उद्धवजी तो ज्ञान का गर्व लेकर आये थे। यहाँ सूर के भगवान् स्वयं रसिक-शिरोमणि थे। बालकृष्ण माखन माँग रहे थे। वह दे नहीं रही थी, हठ करती थी—माखन के लिये नहीं, वरन् 'बतरस लालच' के लिये। श्रीमद्भागवत और सूर-सागर के वर्णनों की भौतिकता बहुत कुछ उनकी अन्तिम पंक्तियों से परिमार्जित हो गई है। श्रीमद्भागवत में गोपी से कृष्ण का गुणगान कराकर तथा दधि-मन्थन की घर्षण-ध्वनि से चारों दिशाओं का अमंगल दूर कराया है। यह लोक-मंगल की भावना पूतता का वातावरण उपस्थित कर देती है। सूर के पदों में सूर के प्रभु का उल्लेख रति को भी भक्ति का रूप दे देता है। प्राचीन कवियों की यही विशेषता रही है कि उन्होंने भौतिकता का वर्णन जी खोलकर किया है किन्तु वे उसे पीछे से एक आध्यात्मिक मोड़ दे देते हैं।

कृष्ण भगवान् को दधि-माखन से तो प्रेम था ही किन्तु बालोचित ओठपाव और नटखटी भी काफी करते थे, जो गोपियों के मनोविनोद का कारण बनता था—

चोरी करत कान्ह धरि पाये।
निसि-बासर मोहिं बहुत सतायौ अब हरि हाथहिं आये।
माखन-दधि मेरौ सब खायौ बहुत अचगरी कीन्ही।
अब तौ घात परे हौ लालन, तुम्हें भलैं मैं चीन्ही।
दोउ भुज पकरि कह्यौ कहँ जैहौ, माखन लेउँ मँगाइ।
तेरी सौं मैं नेकु न खायौ, सखा गये सब खाइ।
मुख तन चितै, बिहँसि हरि दीन्हो, रिस तब गई बुझाइ।
लियौ स्याम उर लाइ ग्वालिनी, सूरदास बलि जाइ॥

गोपी-रिस शान्त होने में कृष्ण के सौन्दर्य का प्रभाव व्यञ्जित हुआ है। अन्धे सूर के शब्द-चित्र कुशल चितेरे की कला को भी मात कर देते हैं, क्योंकि चितेरा उस गति और व्यापार की सरलता को अपनी कला में कठिनता से ही अङ्कित कर सकता है। गुमान भरी और गरवीली तो आकृति से व्यंजित हो सकती है, किन्तु कङ्कणों की रुनक-झुनक चितेरे की कला के बाहर की वस्तु है।

भगवान् कृष्ण को अपने कृत्य की सफाई गोपियों को ही नहीं देनी पड़ी थी, माता यशोदा के सामने भी उन्होंने बड़ी सरस सफाई दी है—

मैया मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि, मेरैं मुख लपटायौ।
देखि तुही सींके पर भाजन, ऊँचै धरि लटकायौ।
हौं जु कहत नान्हे कर अपनैं, मैं कैसैं करि पायौ।
मुख दधि पौंछि, बुद्धि इक कीन्ही, दोना पीठ दुरायौ।
डारि साँटि मुसकाइ जसोदा, स्यामहिं कंठ लगायौ।

श्रीकृष्ण के इसी बाल-चापल्य ने नन्द-जसोदा के घर को स्वर्ग से भी अधिक सुरम्य बना रखा था। तभी तो सूरदासजी को कहना पड़ा था—'जो सुख सूर अमर-मुनि दुरलभ सो नँद-भामिनि पावै।' श्रीकृष्ण की माखन-चोरी ब्रज-जीवन की दैनिक चर्चा बन गई थी। कभी ग्वालिनें आकर यशोदा मैया को उलाहना देती हैं— 'जसुदा कहँ लौं कीजै कानि, दिन प्रति कैसै सही परति है, दूध दही की हानि'—तो कभी यशोदा मैया अपने लाड़ले लाल की ओर लेकर गोपी को डाँटती हैं—

मेरो गोपाल तनक सो, कहा करि जानै दधि की चोरी।
हाथ नचावत आवति ग्वारिनि, जीभ करै किन थोरी।
कब सीकैं चढ़ि माखन खायौ, कब दधि-मटुकी फोरी।
अँगुरी करि कबहूँ नहिं चाखत, घर ही भरी कमोरी।

उधर वह बालकृष्ण को भी समझाती हैं कि पराये घर का माखन खाना अच्छा नहीं है। वह अपने घर की सम्पन्नता दिखाती हुई बालक की गर्व-भावना भी जागृत करती हैं—

माखन खात पराए घर कौ।
नित प्रति सहस मथानी मथिए, मेघ सब्द दधि माट घमरकौ।
कितने अहिर जियत मेरे घर, दधि मथि लै बेंचत महि मरकौ।
नव लख धेनु दुहत हैं नित प्रति, बड़ो नाम है नन्द महर कौ।

जब यह गर्व-भावना का अस्त्र निष्फल जाता है, उलाहने आना बन्द नहीं होते और बालक की नटखटी की चारों ओर से शिकायत आती है और स्वयं यशोदा को दोष दिया जाता है—'नन्द घरनि सुत भलो पढ़ायो'—तब यशोदा बालकृष्ण को ताड़ना देने के लिये उलूखल से बाँध देती हैं। तब वे ही गोपियाँ जो बालकृष्ण के विरुद्ध उलाहना देने आती हैं, कृष्ण की हिमायत लेकर आती हैं—'जसुमति एती कहा रिसानी', 'देखौ माई कान्ह हिलकियनि रोवै।' यशोदाजी उनको फटकारती हैं—

जाहु चलीं अपने-अपने घर,
तुम ही सबनि मिलि ढीट करायो, अब आईं छोरन बर।
मोहिं अपने बाबा की सौं हैं, कान्हहिं अब न पत्याउँ।
भवन जाहु अपने-अपने सब, लागति हौं मैं पाउँ।

गो-चरण के उत्सुक कृष्ण—बालकृष्ण दधि-माखन लुटाना ही नहीं जानते थे, वरन् उसके उत्पादन में भी अपना उचित भाग लेना चाहते थे। वह गाय चराने और दूध दुहने के लिये भी उतने ही उत्सुक थे। वे ब्रज-जीवन में पूरा भाग लेना चाहते थे। पहले वह गाय दुहना सीखना चाहते हैं। नीचे के पद में नये कार्यों के बाल-औत्सुक्य का बड़ा सजीव वर्णन है। बालक को सहसा उसके मन की नहीं करने दी जाती है—

मैं दुहिहौं मोहिं दुहन सिखावहु।
कैसें गहत दोहनी घुटवनि, कैसे बछरा थन लै लावहु।
कैसें लै नोई पग बाँधत, कैसें लै गैया अटकावहु।
कैसें धार दूध की बाजति, सोइ सोइ विधि तुम मोहिं बतावहु।
निपट भई अब साँझ कन्हैया, गैयनि पै कहुँ चोट लगावहु।
सूर स्याम सौं कहत ग्वाल सब, धेनु दुहन प्रातहिं उठि आवहु।

इस पद के पढ़ने से प्रतीत होता है कि बालकृष्ण गाय दुहने की सभी प्रक्रिया से निजी निरीक्षण द्वारा सैद्धान्तिक परिचय प्राप्त कर चुके थे। अब वह उसका व्यावहारिक ज्ञान चाहते थे। उनके सखा-संगी भी अपने उत्तरदायित्व को समझते थे। शाम के समय चोट-फेंट लग जाने के भय से गो-दोहन सिखाने से उन्होंने इन्कार कर दिया और उनको सुबह बुलाया। 'सुरक्षा सर्वप्रथम' की बात है।

सुबह यशोदा मैया बालकृष्ण को जगाती हैं और उनको याद दिलाती हैं कि सुबह को गो-दोहन सीखने को कहा था। बालक कृष्ण तुरन्त उठ बैठते हैं—

जागहु जागहु नन्दकुमार।
रवि बहु चढ़्यौ, रैन सब निघटी, उचटे सकल किवार।
साँझ दुहन तुम कह्यौ गाइ कौं, तातें होति अबार।
सूरदास प्रभु उठे तुरत ही, लीला अगम अपार।

सूरदासजी अपने प्रभु के गो-दोहन में बाल-प्रयास का वर्णन करना नहीं भूले। उनके असफल प्रयास को देखकर नन्द बाबा हँस देते हैं। कृष्ण के बाल कौतूहल देखने को ब्रज-नारियाँ भी जुड़ आईं। बाल-जीवन की यही अपूर्णता सूर की वाणी में एक मनोहर यथार्थता ले आती है। उस समय गो-दोहन का विद्यारम्भ की भाँति उत्सव भी मनाया गया। ब्राह्मण बुलाये गये और वेदोच्चारण भी हुआ। कृष्ण नन्द बाबा की आज्ञा लेकर माता से दोहनी माँगने जाते हैं—

तनक कनक की दोहनी, दै दै री मैया।
तात दुहन सीखन कह्यौ, मोहिं धौरी गैया।
अटपट आसन बैठि के, गो-थन कर लीन्हौ।

धार अनत ही देखि कै, ब्रजपति हँसि दीन्हौ।
घर-घर तैं आईं सबै, देखन ब्रजनारी।
विप्र बोलि आसन दियौ, कह्यौ वेद उचारी।
सूर स्याम सुरभी दुही, संतनि हितकारी॥

गो-दोहन तो घर की बात थी, गो-चारण के लिये घर से बाहर जाना पड़ता था। एक बार माता मना कर चुकी थी। वन जाने की कठिनाइयाँ भी बता चुकी थी—

प्रात जात गैया लै चारन, घर आवत हैं साँझ।
तुम्हरौ कमल बदन कुम्हिलैहै, रैं जहि छायहिं माँझ।

सूरदास के प्रभु कब मानने वाले थे! बाल-हठ प्रख्यात है—

सूरदास प्रभु कह्यो न मानत, पर्यौ आपनी टेक।

इसी टेक और हठ के कारण वह पुनः आग्रह करते हैं। नन्द बाबा से कहने में उन्हें संकोच होता था। माता का ही अधिक भरोसा था। वह माता से ही नन्द बाबा की अनुमति प्राप्त करने को कहते हैं। अपने बड़े होने और न डरने की भी बात कहते हैं। माता की आशंकाओं का अनुमान कर वह पहले से ही उनका निराकरण करते हैं। वह अकेले नहीं जायेंगे, पहले नौकरों (रैता-पैता) और सखाओं (मना-मनसुखा) का नाम लेते हैं और अन्त में घर के विश्वासपात्र बड़े भाई बलदाऊजी का नाम लेते हैं। माता के स्नेह को भी जाग्रत करते हैं और कहते हैं कि बन में जाने से मुझे सुख होगा। माँ को बालक के भोजन की फिक्र रहती है। उसका भी प्रबन्ध कर देने को कहते हैं; और अन्तिम बात का जो वह बड़ी दृढ़ता से साख देकर विश्वास दिलाते हैं, वह यह कि जमुना जल में नहीं नहाऊँगा। माता को इसी का डर रहता है कि बन जाकर कहीं जान-जोखों वाले ओठ-पाव न कर बैठे। नीचे का पद मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बड़े महत्व का है—

मैया हौं गाइ चरावन जैहौं।
तू कहि महर नन्द बाबा सौं, बड़ो भयो न डरैहौं।
रैता, पैता, मना, मनसुखा, हलधर संगहिं रैहौं।
बंसीबट तर ग्वालनि कैं संग, खेलत अति सुख पैहौं।

ओदन भोजन दै दधि काँवरि, भूख लगे तैं खैहौं।
सूरदास है साखि जमुन-जल, सौंह देहु जु नहैहौं ॥

यह आज्ञा की बात रात में कही गई मालूम पड़ती है। यशोदा की शायद 'मौनं अर्द्धसम्मति लक्षणम्' की अनुमति प्राप्त कर ली थी। प्रातःकाल ही ग्वालों की टेर-पुकार सुनते ही वह घर से बाहर दौड़ गये। पीछे से यशोदा मैया दौड़ती जाती थीं। आगे बालकृष्ण ग्वालों के पीछे दौड़ते जाते थे। बलदाऊ ने कन्हाई को आते देख लिया। उन्होंने ग्वाल-बालों को रोक लिया। इतने में यशोदा मैया भी आ गईं और कृष्ण को आगे जाने से रोकते हुए उनके हाथ पकड़ लिये। फिर बलरामजी की सिफारिश से ही कन्हाई को गाय चराने को आज्ञा मिली।

हलधर कह्यो जान दे मो संग, आवहि आज सवारे।
सूरदास बल सौं कहै जसुमति, देखे रहियो फारे।

माता की चिन्ता दर्शनीय है। इसमें बालक के औत्सुक्य और माता की चिन्ता का बड़ा सुन्दर संघर्ष है। बलदाऊ बीच में पड़कर सहायक होते हैं। कृष्ण भी डरे हुए हैं, भाई का संग नहीं छोड़ते हैं कि कहीं दूसरे रोज माता वन जाना रोक न दे। इसमें बालकृष्ण का विनयपूर्ण औत्सुक्य और कर्तव्यपरायणता दर्शनीय है। दूसरे दिन साथ ले चलने की भी बालकृष्ण नन्द की दुहाई देकर बलदाऊ से अपील कर देते हैं—

बृन्दावन देख्यौ नँद नन्दन, अतिहिं परम सुख पायौ।
जहँ-जहँ गाइ चरत ग्वालनि सँग, तहँ-तहँ आपुन धायौ।
बलदाऊ मोकौं जनि छाँड़ौ, सँग तुम्हारै ऐहौं।
कैसेहुँ आज जसोदा छाड्यौ, कालिह न आवन पैहौं।
सोवत मोकौं टेरि लेहुगे, बाबा नन्द दुहाई।

बन से लौटने की शोभा में गोपद-रज की ही प्रधानता है। सुबह को देर न हो जाय इसी कारण बालकृष्ण रात भर जगते रहने का संकल्प करते हैं। बालकों को जब कहीं सवेरे जाना होता है तब वे ऐसा ही संकल्प करते हैं, फिर चाहे वह संकल्प पूरा न हो। कृष्ण को घर बैठा रहना नहीं भाता है। बालक की स्पर्द्धा जात होए उठती है और बालक गाय चराने जायँ और

बालकृष्ण घर बैठे रहें, यह कैसे हो सकता है। माता रात भर जगने के संकल्प को सुनते ही सुबह को वन जाने की आज्ञा दे देती है—

आजु न सोवौं नन्द दुहाई, रैनि रहौंगो जागत।
और ग्वाल सब गाइ चरैहैं, मैं घर बैठो रैहौं ?

यशोदा माता बालक को वन में जाने से रोकती अवश्य है, किन्तु मन ही मन ऐसे उत्साही और साहसी बालक की सराहना करती है और देवताओं को धन्यवाद देती है।

गो-चारण के प्रसंग में सूरदासजी गायों के नाम गिनाना भी नहीं भूले हैं। नामों से गौओं का व्यक्तित्व और उनके साथ निजी सम्बन्ध प्रकट होता है। ये नाम कुछ तो रंगों पर आश्रित हैं और कुछ गुणों पर—

अपनी-अपनी गाइ ग्वाल सब करौ इक ठौरी।
धौरी, धूमरि, राती, रौंछी, बोल बुलाई चिन्हौरी।
पियरी, मौरी, गोरी, गैनी, खैरी, कजरी जेती।
दुलही, फुलही, भौंरी, भूरी, हाँकि ठिकाई तेती।

गो-चारण के सम्बन्ध में सूर ने वन-भोज का भी वर्णन किया है। वन-भोज में पूर्ण साम्य-भाव ही नहीं, वरन् किसी अंश में मर्यादा का भी उल्लंघन है। बालकृष्ण अपनी पत्तल का नहीं खाते हैं, दूसरे से कौर छीन-छीनकर खाते हैं।

प्रेम में मर्यादा नहीं रहती है। वैसे भी पराई पत्तल का भात अच्छा लगता है। वन-भोज का एक शब्द-चित्र देखिये—

ग्वाल मंडली में बैठे मोहन बट की छाँह,
दुपहर बिरियाँ सखानि संग लीने।
एक दूध, फल, एक झगरि चबैना लेत
निज-निज कामरी के आसननि कीने।
जैंवतऽरु गावत हैं सारंग की तान कान्ह,
सखनि के मध्य छाक लेत कर छीने।

इसी गो-दोहन-व्यापार में प्रेम-व्यापार भी चल पड़ता है। कृष्णजी राधा के यहाँ गाय दुहने जाने लगते हैं और हास्य-विनोद छिड़ता है। कृष्ण एक धार दोहनी में गिराते हैं, एक राधा

के ऊपर। कभी राधा को दोहनी लौटाकर नहीं देते; वह हा-हा करती है। कृष्ण को यह देखकर सुख होता है—

धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी।

और

दुहि दीन्ही राधा की गाइ।
दोहनि नहीं देत कर तैं हरि, हा हा करि परै पाइ।
ज्यों ज्यों प्यारी हा हा बोलति, त्यों त्यों हँसत कन्हाइ।

बिहारी ने राधा से बदला लिवाया है—'बतरस लालच लाल की मुरली लई लुकाइ।' ब्रज-जीवन के ये पारिवारिक चित्र बड़े मनोरम और सरस हैं। ब्रज-जीवन के प्रायः सभी दृश्यों में गौओं की प्रधानता है। सूरदास के प्रभु की लीला आगे भी बढ़ती है। ग्वालिनें गोरस बेचने जाती हैं। उनसे भी छेड़-छाड़ चलती है।

गौएँ ब्रज की प्राण-शक्ति हैं, उनसे ही ब्रज-जीवन इतना सरस बना है। गो-चारण भगवान् कृष्ण की सहज-शोभा को और भी बढ़ा देता है। गो-दोहन, दधि-माखन की लूट, गोप-गोपियों में एक अनुपम हास्य-विनोद की तरंग उत्पन्न कर देती है। जीवन का आनन्द सूर की वाणी में मुखरित हो उठता है। ब्रज के उस लहलहाते जीवन-सौन्दर्य में अवगाहन कर हम भी नये उत्साह का संचय कर सकते हैं।

[*'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'* (२१ अक्तूबर ५४)]